* हरि ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

श्री वेदान्त रसबिन्दुः

श्री मङ्गलोपदेश रसायन

"दिवसास्ते महान्तम्ते, संपदस्ताः क्रियाश्वताः ।
सर्व स्मृति पथं यातं, यामो वयमपि क्षणात् ॥"

(श्री वाल्मीकीय महारामायण)

लेखक :—

सीताराम

* ओं तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

समर्पणम्

यह पुस्तक

श्री वेदान्त रसबिन्दु

—तथा—

श्री मङ्गलोपदेश रसायन

श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य, ब्रह्म विद्वद् वरिष्ठ, हृषीकेश श्री कैलाशा-श्रमके मुख्य संरक्षक, श्री १०८ श्रीमत् स्वा० गोविन्दानन्द गिरि-जी महाराजके कर कमलोंमें, सादर सविनय इस लेखक ने समर्पण की, स्वीकार होवे ।

॥ शुभं भूयात् ॥

कांधला
संवत् १९८५ विक्रमी

सेवक
सीताराम

* ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

श्री वेदान्त रसबिन्दुः

तथा श्री मङ्गलोपदेश रसायन

लेखक—

कांधला-निवासी श्रीमान् दुर्गाप्रसादात्मज

सीताराम गुप्त

प्रकाशक—

बाबू मन्नालाल सुरेका रतनगढ़ निवासी

६८ नं० मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट

कलकत्ता।

साधु सेवार्थ छपवाया

दूसरी बार १२००] [मूल्य :—श्रद्धा
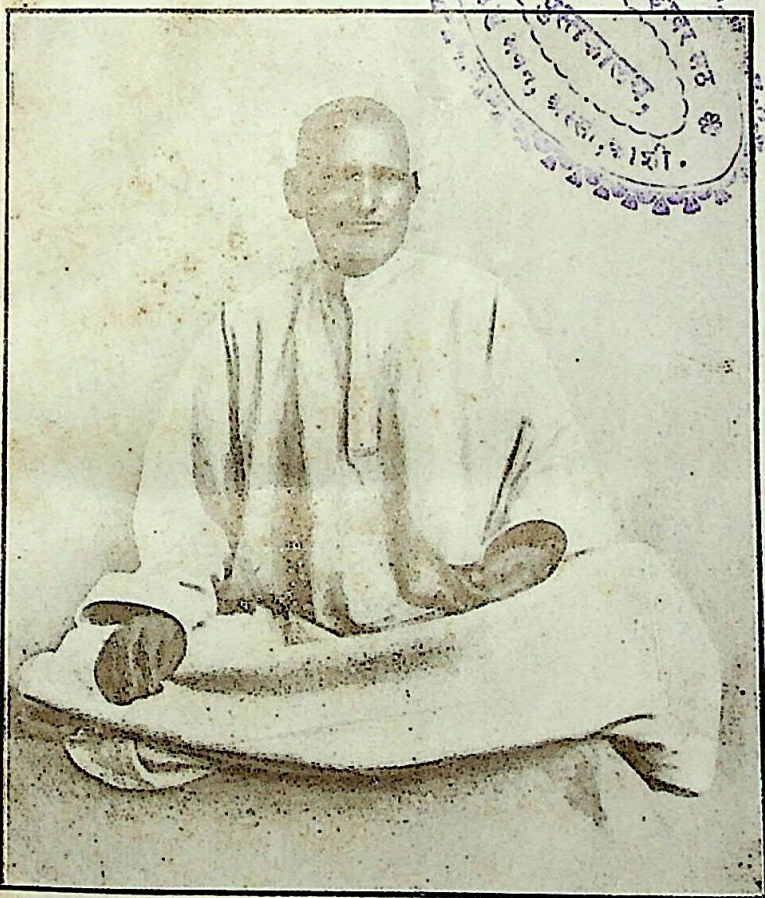
स्वर्गीय ब्रह्मलीन विद्वद्वरिष्ट योगिराज पूज्यपाद

श्री श्री १०८ स्वामी मङ्गलनाथ जी महाराज ।

हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः

श्री मङ्गल मूर्तये नमः ।

भूमिका

ब्रह्मलीन विद्वद्वरिष्ठ योगीराज पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी मङ्गलनाथजीकी उपदेशावली 'श्रीवेदान्त रसबिन्दु' तथा श्रीमङ्गलोपदेश रसायन दो पुस्तकें, पाठकगणोंके लाभार्थ पूर्व प्रकाशित करा चुका हूं । दूसरी पुस्तकमें, जो प्रथम लेख था, वह 'श्रद्धाके अश्रुपात' थे । उसमें श्री महाराजकी प्रेमवश उनके जीवन-कालके स्मरण युक्त शृङ्खला रहित वातें थीं । कुछ वातें ऐसी भी थीं जो यद्यपि सत्य थीं, परन्तु प्रिय नहीं थीं । वे हितकर अवश्य थीं, परन्तु कतिपय सहपाठियोंके अनुरोधसे मुझे उस लेखकको इन दोनों पुस्तकोंके संयुक्त संस्करणमें न रखना उचित जान पड़ा, इसलिये उसको निकाल डाला, पाठकगण क्षमा करेंगे । फिर भी उसमें से थोड़ा-सा भाग इस भूमिकाके साथ पाठकोंके विनोदार्थ मिला देता हूं । इस संयुक्त संस्करणमें जितने प्रश्न, उत्तर पहले छप चुके हैं, वे सब ज्योंके त्यों उसी क्रम सहित रख दिये हैं, और वही विषय सूचीके साथमें दे दिये हैं तथा उपदेश पत्र भी सब वही हैं । यदि मुमुक्षु वर्ग इन उपदेशोंसे पूर्ण लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे तो अवश्य उनका कल्याण होगा और लेखकका परिश्रम सफल होगा ।

संक्षिप्त वृत्तान्त

श्री महाराज स्वामी मङ्गलनाथजीके शरीर पर श्रद्धा रखने वाले जन सम्पूर्ण भारतवर्षके दूर और समीपके सब प्रान्तोंमें होंगे। क्या साधु महात्मा और क्या गृहस्थ, क्या धर्म जिज्ञासु और क्या ब्रह्म जिज्ञासु, क्या धीर और क्या राजनीतिक कर्मवीर, क्या आर्य और क्या अनार्य, क्या मित्र और क्या शत्रुगण सभी उन पर श्रद्धा रखते थे। वे जैसे ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर, वेद शास्त्रोंके पारगामी थे, वैसे ही धर्म पर अत्यन्त आस्तिक थे। यह इस व्यक्तिने कई बार देखा है कि यात्रियोंने मार्गमें उनको रोक लिया, स्वामीजीने वहीं पृथिवी पर ,वैठ कर उपदेश कह दिया, वहीं वैठे-वैठे चादरों और वादामोंका ढेर लग गया। स्वामीजी सब कुछ वहीं छोड़ कर जंगल को चल दिये, अन्य किसी महात्माने उस सामग्रीको उठा लिया।

एक समय एक सद्गृहस्थने स्वामीजीको द्रव्य भेंट करनेके लिये हाथ वढ़ाया। उन्होंने समझा, पुष्प भेंट करता है। जव उसने रुपये हाथ पर धरे, तव हाथ पटक कर दूर कूद कर खड़े हो गये, मानों किसी विच्छूने काट लिया हो। आज कल कुछ कहीं थोड़े ही साधु महात्मा ऐसे त्यागी देखनेमें आवेंगे। पीछे-पीछे यदि कोई सेवा करनेकी इच्छा करता था, तो गोशालामें दान दिलवा देते थे।

श्री स्वामीजीको किसी भेष या जातिका पक्षपात नहीं था, वे सदा समदर्शी थे। एक दिन इस, व्यक्तिके सामने एक वम्बईके सेठने कहा कि तीन या चार लाख रुपयेके धनसे एक धर्मशाला तथा

मन्दिर बम्बईमें बना दिये हैं, आप उसको संभालिये। श्री महाराजने कहा कि मैं सम्पूर्ण विश्वको अपना ही समझता हूं आप किसी योग्य साधुको वहां बिठला दीजिये, मुझे अवकाश नहीं है।

सामयिक उपदेश

श्री महाराज गृहस्थादिकोंको यथोचित उपदेश किया करते थे, यदि कोई कर्मका अधिकारी होता था तो शुभ कर्मपरायणताका उपदेश करते थे, यदि कोई वैराग्य सम्पन्न तथा ज्ञानका पात्र होता था, तो उसको क्षमादि साधनोंमें स्थापन करके प्रथम वेदान्तकी प्रक्रियाके ग्रन्थोंको पढ़ाते थे। विशेषतः व्युत्पत्तिके लिये वेदान्तके अधिकारियोंको पञ्चदशी, उपदेशसहस्री आदिके ग्रन्थोंका श्रवण कराते थे। गीता, उपनिषद् पढ़ाते थे तथा ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन कराने के लिये मुमुक्षु वर्गको जीवन्मुक्ति विवेक वा पातञ्जल योग दर्शन व्यास भाष्य पढ़ाते थे।

वे श्रद्धालु मुमुक्षु वर्गमें, आश्रमकी श्रेष्ठताकी न्यूनाधिकता पर ध्यान नहीं देते थे, न उनको किसी भेष या जातिका पक्षपात था; किन्तु सच्चे विरक्त जिज्ञासु पर सदैव उनकी करुणा दृष्टि बनी रहती थी। श्री महाराज उनको अत्यन्त दया भरी हुई तिर्छी निगाहोंसे देखा करते थे, उनके रोगोंकी ओर भी दृष्टि रहती थी और यथा-सम्भव सहायता देते थे। उन मुमुक्षु वर्गके साथ श्री महाराज दोपहर पीछे, एक मील दूर पहाड़ी नालोंके पत्थरोंमें और खड्डोंमें जाकर और पृथिवी पर बैठ कर शिष्य वर्गको चारों ओर बैठा कर ब्रह्मो-

पदेश किया करते थे। वे वेदान्तके गुह्य रहस्योंको सहजमें ऐसी रीतिसे समझा देते थे कि उनको बिना पढ़ा हुआ आदमी भी समझ जाता था।

श्री महाराजने लगभग सत्तर वर्षकी आयुमें देह छोड़ा, परन्तु उनके आयुष-कालमें कितने सहस्र स्त्री-पुरुष ज्ञान-निष्ठाको प्राप्त हुए होंगे, यह अनुमान नहीं हो सकता। अब भी सिन्ध, पंजाब, मारवाड़, संयुक्त प्रदेश, उत्तराखण्ड, काशी आदिमें अगणित जनता उनका आदर-सत्कार और उन पर श्रद्धा भाव रखती थी। लेखकने स्वयं हजारोंकी तादादमें यात्रियोंको हृषीकेशमें नित्य प्रति उनकी कुटिया के आगे बैठे हुए और प्रातःकालसे दोपहर तक तथा मध्याह्नकालसे सायंकाल तक घेरे हुए देखा है।

श्री स्वामीजी बालपनसे त्याग, वैराग्यकी मूर्ति और महा तपस्वी थे। दिन भर और कई-कई दिन बिना भोजन किये उन्हें हो जाते थे। अपना शारीरिक दुःख किसीसे कहना नहीं चाहते थे। रोगको सहजमें सहन करते थे और जब अस्मदादिक उनकी शारीरिक कुशलता अथवा रोगके विषयमें वृत्तान्त पूछते थे, तो वे कहते थे कि हमको देहका स्मरण मत कराओ, विस्मरण रहने दो, क्योंकि स्मरणसे ही दुःख होता है। दीर्घ काल एकान्तसेवी, वैराग्यवान् रहते हुए जब दैवयोगसे उनकी लोक संग्रहार्थ प्रवृत्ति हुई, तो वह समुदायके विक्षेपको सहन करनेसे उनको बहुत पीड़ा हुई, जिससे उनके हृदयमें धड़कन उत्पन्न हो गई, और विशेषतः हृदय-रोग रहने लगा, जो अन्त समय उनके देहावसानमें निमित्त कारण हुआ।

वे गृहस्थोंको उपदेश किया करते थे कि भाई, जिस प्रकार कूपसे जल लेनेके लिये डोरी-लोटा उस कूपमें डालते हैं, सब डोरी कूपमें चली जाती है, एक हाथ भर डोरी पानी भरने वालेके हाथमें रहती है, यदि वह एक हाथ डोरी हाथसे छूट जावे तो लोटा-डोरी सहित कूपमें चला जाता है और मनुष्य जलसे वंचित हो जाता है और सदाके लिये लोटा-डोरी खो बैठता है। परन्तु यदि डोरी पकड़े रहे तो जल मिल जाता है। इसी प्रकार इस मनुष्यने अनेक जन्म व्यर्थ संसार-कूपमें खो दिये, केवल यह मनुष्य-देह इसके वशमें है, यदि यह देह भी बिना मोक्ष साधन सम्पादन किये हुए इसके हाथसे निकल गया, तो फिर मनुष्य जन्म मिलनेकी आशा नहीं है। इसके सब पूर्व जन्म व्यर्थ चले गये, परन्तु यदि यह शरीर इसने पुरुषार्थमें लगाया तो इसके सब पूर्व जन्मोंके शरीर सफल हो जाते हैं, और यह मोक्षका भागी होकर आप भी तृप्त होता है और अन्योंकी भी तृप्ति करता है। इसलिये इस मनुष्य-शरीरको व्यर्थ ही न खोना चाहिये। इसी जन्ममें शुभकर्मसे, अन्तःकरण शुद्ध बनाना चाहिये और योग तथा ज्ञानको सम्पादन करके अपना और दूसरोंका भी कल्याण करना उचित है।

यदि कोई श्रीमान् वा धनाढ्य पुरुष गुजारेकी शिकायत करता था, तो उसको थोड़ा खर्च करनेका स्वभाव डालनेका उपदेश किया करते थे। श्रीमहाराज सद्गृहस्थोंको कहा करते थे कि देखो भाई रोटीको लोग इसलिये चूल्हेमें अग्नि पर सेंकते हैं, यह पक जायगी तो हमारा और कुटुम्बका देह निर्वाह होगा, परन्तु सेंकी जानेके पश्चात्

यदि रोटीको सेका जावे तो क्या होगा ? रोटी जल जावेगी और न तुम्हारे काम आवेगी न दूसरेके काम आवेगी। जिस प्रकार यह दृष्टान्त है इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक समझ लो कि द्रव्य इसलिये उपार्जन किया जाता है, जिससे तुम्हारा और कुटुम्बादिक सबका निर्वाह हो जावे, परन्तु जब निर्वाह योग्य द्रव्योपार्जन हो जाता है और अधिक द्रव्यके संग्रह की अथवा विशेष भोग सम्पादनकी तृष्णा होती है, तब यह अधिक तृष्णालु हो जानेसे कामी, क्रोधी, लोभी होकर अनेक पापोंका संग्रह करता है, अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे ग्रस्त होता है, अनेक अपमान और हानियोंको सहन करता है तथा चिन्ता-ही चिन्तामें कालका ग्रास होकर नरकका पात्र होता है।

कहां तक कहा जावे उपद्रव ही उपद्रव होते हैं। इसलिये उचित है कि धर्मपूर्वक धन उपार्जन करो, थोड़ेमें निर्वाह करो, कुटुम्बका पालन करो। सारा आहार ईश्वरको अर्पण करके खाओ, समय बचा कर ईश्वरकी आराधना करो, कथा-वार्ता सुनो, योग-ध्यान सम्पादन करो, महात्माओंका सत्संग करो और अपना तथा सम्बन्धियोंका कल्याण करो, यही रोटी सेंक कर खाना है अन्यथा रोटी जल जायगी, न तुम खा सकोगे न दूसरा खा सकेगा। पाठक-वृन्द विचारें कि सत्-गृहस्थोंके लिये तृष्णा निवृत्ति-पूर्वक धर्मसे द्रव्यका उपार्जन करके सहज निर्वाहार्थं, यह कैसा कल्याणदायक उपदेश है।

एक समय लेखकने श्रीमहाराजसे संन्यास आश्रमके विषयमें कर्तव्यको पूछा। श्री महाराजने कहा कि विचारो तुम्हारा कल्याण

अभ्यासकी निवृत्तिसे होगा, अथवा अध्यासकी वृद्धिसे होगा। यदि तुम संन्यासाश्रमको स्वीकार करोगे तो उस आश्रमके नियमोंका पालन करना भी तो सीखोगे, यह नया अध्यास ग्रहण करना होगा। यदि कहो कि वेदान्त विचार द्वारा अध्यास निवृत्ति करेंगे तो तुम वेदान्त विचार अब भी कर ही रहे हो, यहीं देहाभ्यासकी निवृत्ति क्यों नहीं करते ?

उनका महान अनुग्रह हुआ।

वन-विहार

स्वामीजी इस व्यक्तिको अपने साथ सोलह-सोलह मील, दिन प्रति दिन, जंगलोंमें घुमा कर लाया करते थे। मार्गमें, वनों उपवनों-में घूमते थे, जलाशयोंके समीप बैठते थे, वनोंमें, प्राचीन शिवालयोंमें शङ्कर भगवान्‌के दर्शन करते थे, रुपये अथवा रसायन बनाने वाले जनोंके गुप्त स्थानों और उनके वनाये हुए अग्निकुण्डोंको देखते थे।

हेमन्त ऋतुमें वे शिष्योंके सहित धूपमें बैठ कर कहीं ब्रह्म विचार करते थे, वेतके कण्टक वृक्षोंसे पूर्ण वनोंमें घुस कर वस्त्रोंको सुलझाते हुए, आंख कान बचाते हुए छायामें वनोंको नांघते चले जाते थे। कहीं-कहीं दल-दलमें पांव धँस जाने पर सहजमें पांव निकाल कर फिर चलते थे, हँसी-खुशीकी बातें करते जाते थे, श्रुतियोंके अर्थों पर विचार करते जाते थे, अपने पूर्वकालके अनुभूत चरित्रोंको सुना कर प्रसन्न होते थे, वनसे बाहर निकल कर पहाड़ी घराट पर पनचक्कीसे आटा पिसता हुआ देखा करते थे, श्री गङ्गाजीके परले

पार वनके हाथियोंको स्नान करते अथवा रेत, धूल उड़ाते देखा करते थे। और घूमते गोशालाकी गऊओंको जाकर घेर लेते थे तथा उनको चराने लगाते थे अथवा इकट्ठी करके गोशालाकी ओर हांक देते थे।

ग्रीष्म ऋतुमें भी दोपहरके पीछे इसी प्रकार बाहर जाते थे, मार्गमें किसी मदोन्मत्त साधुको देखते, स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका विचार करते थे, और उनको धूर्त्ततासे पृथक करके विवेचन करते थे। जब श्रमसे थक जाते थे तो पुष्पित कण्टकदार करोंदेके वृक्षकी सघन छायामें लेट जाते थे और वनके पुष्पोंकी सुगन्धीसे प्रसन्न चित्त हो जाते थे। टेसू (किंशुक) के निर्गन्ध पुष्पोंके गुच्छे हाथमें लेते थे और श्रीमहाराज उनको काव्य रचना सुनाते थे।

ज्वर चढ़ने पर भी उनके पास यही औषधी थी कि अन्न भोजन का परित्याग कर देते थे और भ्रमणार्थ वनको निकल पड़ते थे, जिससे पसीना आकर ज्वर उतर जाता था। रास्तेमें पाडलकी सूखी फली शिरके साफेमें रख लेते थे, कि इससे शिर दर्द आराम होता है। इस प्रकार दीर्घ काल, श्रीमहाराजके सत्संगमें द्वादश वर्ष तक आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ।

एक समय भेद-वादीका खण्डन किसी प्रसंगसे इस व्यक्तिने प्रतिवादीके अपमानपूर्वक किया। तब इस प्रकार श्री महाराजने कहा:—

"न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्द गुणानपि।
नान्य दोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता॥"

अर्थ यह है :—गुणी पुरुषोंका जो अपघात न करना और थोड़े गुणोंकी भी स्तुति करना है, वह असूयाका अभाव कहलाता है।

यानी दूसरोंके गुणोंका अनादर करना और दोष दर्शन करना असूया है। इसलिये किसीमें भी असूया न करना चाहिये।

स्वयं श्री महाराज वैष्णवोंमें वैष्णव होकर रहते थे और शैवोंमें शैव तथा शाक्तोंमें शाक्त होकर माननीय थे। वे योगियोंमें योगी थे, वेदान्तियोंमें वेदान्ती तथा संन्यासियोंमें संन्यासी थे।

वे अस्मदादिकोंको मार्गमें चलते हुए वेदान्तकी शिक्षा दिया करते थे, इसमें एक यह उदाहरण है कि एक दिन सायंकालको बाहर भ्रमणार्थ जब कुटियासे जङ्गलकी ओर जा रहे थे, तो दूरसे तरबूजका छिलका पड़ा हुआ दिखाई दिया। उन्होंने इस सेवकसे पूछा कि यह क्या है ? वह रूपमें श्वेत था इसलिये इसने उसको किसी मुर्देकी खोपड़ी बतलाया, उन्होंने कहा यह तुम्हारा भ्रम है, समीप चल कर परीक्षा करो। देखनेसे तरबूजका छिलका दिखाई दिया। उन्होंने इस दृष्टान्तके आधार पर यह दार्ष्टान्तिक समझाया कि जिस प्रकार अविचारसे मन्द अन्धकारमें यह ज्ञात होता था कि कुछ पड़ा है, परन्तु विशेषतः ठीक ज्ञात नहीं होता था, उसमें खोपड़ीकासा भ्रम हुआ था और जिज्ञासा यह विचारकी हुई कि वह क्या है। यह वस्तु सामान्यसे ज्ञात थी कि कुछ है, परन्तु विशेष अज्ञात थी, इसीलिये जिज्ञासाकी विषय हुई, क्योंकि अत्यन्त ज्ञातमें ही जिज्ञासा होती है न अज्ञातमें ही, परन्तु सामान्यसे ज्ञात और विशेष अज्ञातमें ही जिज्ञासा होती है और वही अज्ञान भ्रम सन्देहका विषय होती है। पीछे देखनेसे अज्ञान सहित भ्रम सन्देह निवृत्त होकर समझा गया कि तरबूजका छिलका है।

इसी प्रकार यह जो दृष्ट आ रहा है, सम्पूर्ण दृश्य वह सामान्य से इदन्ता, सतरूपसे ज्ञात और विशेषतः ब्रह्मरूपसे अज्ञात है, यही अज्ञान भ्रम सन्देहका विषय है और ज्ञानके प्रमाणके तथा विचारके अधीन है। सामान्य सतरूपसे ज्ञात हुआ-हुआ भी अद्वैत अखण्ड आनन्द-स्वरूप ब्रह्मज्ञान विचारसे होगा और तब ही जिज्ञासाकी निवृत्ति होगी।

श्री स्वामीजी जिस दृष्टिसे पुरुषोंको देखते थे, उसी दृष्टिसे स्त्री वर्गको देखते थे। उनकी दृष्टिमें जो उनकी शरणमें जाता था, वह उनका शिशु था। यदि कोई जिज्ञासु स्त्री, स्वयं ज्योति आत्माको पूछती थी तो वे वृहदारण्यक उपनिषद्के ज्योति ब्राह्मणका मन्त्रों सहित सम्पूर्ण अर्थ कण्ठसे सुना देते थे। यदि कोई मुमुक्षु पूछता थ कि एक सतके ज्ञानसे सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान कैसे हो सकता है तो छान्दोग्य उपनिषद्का सम्पूर्ण छठा अध्याय अर्थ सहित सुनाकर समझा देते थे। वे कहा करते थे जिसको अज्ञान है, उसीको ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति करनेका अधिकार है, क्योंकि ब्रह्मको ही अज्ञान हुआ और उसीने सर्वात्म भावसे अपने अज्ञानकी निवृत्ति की, यह वृहदारण्यक उपनिषद्के प्रथम अध्यायमें निरूपण है।

परमात्मा, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र कुछ नहीं देखता है, वह तो भक्ति जिज्ञासाको ही देखता है। ऐसा वे कहा करते थे।

इति भूमिका

लेखक—विनीत सीताराम गुप्त

कार्त्तिक सुदी पंचमी संवत् १९८८ विक्रमी।

प्रकाशक :—

ॐ तत्सत् श्रीमङ्गलमूर्तये नमः ।

निवेदन पत्र

पाठक गण !

मैं यह जानता हूं कि मैं विद्वान् नहीं हूं । और इस समयके अनुसार उत्तम श्रेणीका लेखक भी नहीं हूं । मैं यह भी जानता हूं कि इस लेखमें त्रुटियां होंगी । परन्तु मेरी यह भावना है कि मैं इन श्री १०८ स्वामी मङ्गलनाथजी महाराजसे श्रवण किये हुए और यथामति ग्रहण किये हुए उपदेशोंको उन आत्म जिज्ञासु जनों तक पहुंचानेका प्रयत्न करूं, जो इनको प्राप्त करनेके अत्यन्त अभिलाषी हैं । यदि वे सज्जन सारग्राही दृष्टिसे इस पुस्तकसे लाभ उठा सकें तो मेरा परिश्रम सफल होगा—

मैं यथासम्भव इस पुस्तकके दूसरे संस्करणमें त्रुटियोंकी पूर्ति करनेका प्रयत्न करूंगा । शुभम्भूयात् ।

कांधला
कार्तिक शुदी त्रयोदशी १९८३ बिक्रमी } सीताराम

पाठकगण !

परमात्माको धन्यवाद है कि श्री वेदान्त रसविन्दु तथा श्री मंगलोपदेश रसायन, यह दोनों पुस्तकें दूसरी बार एक साथ छपाकर आपकी भेंट करता हूं । मुमुक्षुजन सत्विचार द्वारा हृदयमें धारण करके परिश्रम सफल करें । शुभं भवतु । विनीत, सीताराम कांधला ज्येष्ठ बदी त्रयोदशी १९८८ विक्रमी ॥

* ओम् श्रीमङ्गल मूर्तये नमः *

श्रीवेदान्तरसविन्दुके प्रश्नों की

विषयानुक्रमणिका

(१) श्रीभगवान्ने "तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि" इस गीता वाक्यका कर्मसे मोक्षमें तात्पर्य कहा है वा ज्ञान से ?

(२) ब्रह्मबोधमें विधि मुख निषेध मुख वाक्योंका किस प्रकार उपयोग है ?

(३) शब्दमें क्या शक्ति है ?

(४) अध्यासकी अत्यन्त निवृत्ति, जीतेजी कैसे होवे ? निवृति भी हो तो प्रारब्ध भोग कैसे होगा ? मरण कालमें सर्व देह पीड़ा ज्ञानीकी निवृत्त हो जाती है, वा भोगनी पड़ती है ? स्त्रियोंका ज्ञान में अधिकार है वा नहीं ?

(५) ज्ञान प्राप्तिमें मुख्य हेतु क्या है ?

(६) वेदान्तकी भाषामें योगकी निरुद्ध भूमिको क्या कहते हैं ?

(७) कपट का परदा क्या है और कैसे उठता है ?

(८) विषय दुःख रूप हैं विक्षेपप्रद हैं कैसे निवृत्त हों ?

(९) इस समय विचारवानको कौन सा मुख्य आश्रय सेवन करने योग्य है ?

(१०) मनुष्यको क्या कर्तव्य है ?

(११) आजीविकाके उपार्जनमें श्रम और विक्षेप होता है,

विक्षेप की निवृत्तिके वास्ते ही पुरुषार्थ है सो विक्षेप की निवृत्त व्यापार करते हुए कैसे सिद्ध हो ?

(१२) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति बोधित "सर्व" को ब्रह्मरूपता कैसे है ?

(१३) "शक्ति निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशु वत्। जगच्छक्त्यात्मनात्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम्", इस योग वासिष्ठ श्लोक का भावार्थ क्या है ?

(१४) सुषुप्ति तथा समाधिमें क्या भेद है ?

(१५) "आत्मेत्येवोपासीत्" इस श्रुतिका क्या अर्थ है ?

(१६) "या निशा सर्वभूतानाम् "इस भगवद्गीताके श्लोकका क्या अर्थ है ?

(१७) सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवानका अर्जुन को क्या निश्चय करानेमें तात्पर्य है ?

(१८) ब्रह्मज्ञानीकी समाधि कैसी होती है ?

(१९) ज्ञान निष्ठाकी कठिनता और दुर्लभतामें कौन सा कारण है ? निष्ठा प्राप्तिमें कौन साधन हैं ? निष्ठाका क्या स्वरूप है ?

(२०) शान्तिका परम उपाय क्या है ?

(२१) मृत्यु किसको कहते हैं ? मृत्युसे छटनेका क्या उपाय है ?

(२२) विचारवान और वृद्ध होते हुए भी सत्सङ्गको छोड़ कर गृहादिमें जानेकी इच्छा क्यों होती है ?

(२३) आधुनिक विज्ञानी कहते हैं कि इच्छा त्याग और शान्ति ने भारतवर्षको दुर्दशामें डाला है, उद्योगसे और रसायन विद्याको

सीख कर देशोन्नति करनी चाहिये, जन्म-मरण नहीं छूट सकते, मोक्ष इच्छा कुकल्पना को छोड़ो, वेदान्त विचारसे आलस्य और अकर्मण्य होता है, सो उनका कथन कहां तक ठीक है ?

(२४) जगत् प्रत्यक्ष है, वासना मनमें होती है, इसलिये जगत् वासना रचित कैसे है ? वासना निवृत्ति कैसे होवे ? फल क्या है ?

(२५) ब्रह्म निर्विशेष अद्वितीय कैसे है और निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान वा ध्यान किस प्रकार हो सकता है ?

(२६) हृदय ग्रन्थि किसको कहते हैं उसका भेदन कैसे होता है ?

(२७) एक जीव वादकी रीतिसे कैसे बोध होता है ?

(२८) वेदान्तमें नाना वाद किस प्रकार एक सर्वात्माको ही लखाते हैं ?

(२९) योग वासिष्ठमें संवेदन कवच कलनादि शब्दोंका क्या तात्पर्यार्थ है ?

(३०) आत्माका अनात्मासे क्या सम्बन्ध है ?

(३१) अज्ञान अनादि है अथवा सादि है ?

(३२) यद्यपि यह जगत् ब्रह्ममें मिथ्या है तथापि अन्यत्र कहीं अवश्य होगा सो कैसे मिटेगा ?

(३३) प्रमाण क्या है और प्रमाणोंकी सफलता कहां होती है ?

(३४) सोहं प्रणवका अभ्यास कैसे होता है और उसका फल क्या है ?

(३५) अवोचीकी भावनासे ब्रह्माभ्यास किस प्रकार होता है ?

(३६) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कैसे निश्चय हो। मुझे तो जगत ही दृष्टि आता है।

(३७) अनादि संसारको शास्त्रमें क्षणभङ्गुर क्यों कहा है ?

(३८) यदि जो कुछ दृष्टि आता है सब अस्ति भांति प्रिय रूप ब्रह्म है तो यह ही सदासे दृष्टिगोचर होना चाहिये था पहाड़ पाषाणादिक क्यों दृष्टि आते हैं ?

(३९) वेदान्त शास्त्र और महात्मा संसारको स्वप्नवत् क्यों कहते हैं, यह मिथ्या कैसे है और इसका कारण कौन है ?

(४०) सर्व निश्चयोंमें साररूप अनुभव कहिये ?

(४१) ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार होती है ?

(४२) मन तो साथ है किस प्रकार त्याग होवे ?

(४३) वाधितानुवत्ति क्या है ?

(४४) "यत्साक्षाद् परोक्षाद् ब्रह्म" इस श्रुतिमें अपरोक्षके साथ "साक्षात्" क्यों कहा है ?

(४५) "ब्रह्म ब्रह्मणि बृहितम्" इसका भावार्थ क्या है ?

(४६) निवृत्ति हुए पोछे क्या अज्ञान लौट आता है ?

(४७) हे भगवन् ! विद्या द्वारा अविद्याकी निवृत्ति कैसे होती है ?

इति विषयानुक्रमणिका सम्पूर्णगतः

ओ३म्

ओम् तत्सद्ब्रह्मणे नमः श्री मङ्गलमूर्तयेनमः।

अथः

श्री वेदान्तरसविन्दुः

(१) प्रश्न :—हे भगवन् "तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे शुभात्" इस श्रीकृष्ण भगवान्के वाक्यसे गीताका तात्पर्य कर्म द्वारा मोक्ष प्रतिपादनमें ज्ञात होता है अथवा ज्ञान द्वारा, कृपा करके निरूपण कीजिये—

उत्तर :—इस वाक्यसे श्री भगवान्का कर्म, अकर्म, विकर्मके स्वरूप वोधनमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु इस मिषसे, ज्ञानोपदेश द्वारा मोक्ष कथनमें तात्पर्य है—आगे ही गीतामें कहा है :—"कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादि।" इस श्लोकका भाव यह है कि जिसको अज्ञजन कर्म समझते हैं, वह वस्तुतः अकर्म ब्रह्म ही है। जिस प्रकार कोइ नर नौकामें जाता हुआ अपने आपको अक्रिय माने और किनारेके जीवों को क्रियावान माने, यह भ्रम मात्र है, इसी प्रकार सब अज्ञ जन अक्रिय ब्रह्म स्वरूप हैं भी, परन्तु अविद्या वशसे अपने आपको क्रियावान जीव जगतरूपसे मानते हैं। श्लोकका अर्थ यह है कि जो नर कर्ममें, कर्म विनिर्मुक्त अकर्म ब्रह्म ही है, ऐसा देखता है और आग्रह पूर्वक चुप बैठने मात्र अकर्मको, दम्भ रूप कर्म जानता है, वह मनुष्यों

में बुद्धिमान है, वह ही योगी निष्ठावान् समाहित है और वह सब कर्म कर चुका, यानी कृतकृत्य है अथवा अपने सब कर्मोंका छेदन कर चुका है। इत्योम्

(२) प्रश्न :—हे भगवन् विधि मुख और निषेध मुख इस भेद-से दो प्रकारके वाक्यों द्वारा, श्रुति ब्रह्मका उपदेश करती है, परन्तु ब्रह्म बोधमें इन वाक्योंका किस प्रकार उपयोग करता है, सो कृपा करके उपदेश कीजिये।

उत्तर :—श्रवण करो, इस वार्ताको हम रज्जु सर्पके दृष्टान्तसे समझाते हैं :—

दृष्टान्त—जिस प्रकार किसी पुरुषने मन्द अन्धकारमें रज्जुको सन्दिग्ध सामान्य रूपसे देखा, मानो कुछ वस्तु पड़ी हुई है, क्योंकि ऐसा नियम है कि जब आलोक द्वारा वस्तुके साथ चक्षुका सन्निकर्ष होता है तब ही चाक्षुक विशेष प्रत्यक्ष होता है। मन्द अन्धकारमें आलोकके अभावसे विशेष प्रत्यक्ष न हुआ सामान्य ज्ञान हुआ कि कुछ है। उस पुरुषने किसी आप्तवक्ता पुरुषसे पूछा कि 'इदं किं' अर्थात् यह क्या है, तब आप्तवक्ता पुरुषने उत्तर दिया कि 'इयं रज्जुः' अर्थात् यह रज्जु है, बस इतने उपदेशसे ही रज्जुका पूर्ण बोध हो गया। सर्प भ्रम हुआ ही नहीं था, इसलिये उसके लिये निषेधकी आवश्यकता नहीं, यह एक प्रकारका अधिकारी कहा, अब दूसरा सुनो :—किसी दूसरे पुरुषको रज्जुमें स्पष्ट सर्पका भ्रम हुआ और वह डर कर भागा तब आप्तवक्ता पुरुषने कहा कि डरो मत नायं,

सर्पः' अर्थात् यह सर्प नहीं है—तब उसने स्वस्थ होकर पूछा 'किमिदं तर्हि' अर्थात् यह सर्प नहीं तो क्या है। तब आप्तवक्ता पुरुषने कहा कि 'इयं रज्जुः' यह रज्जु है, तब उसको रज्जुका पूर्ण बोध हुआ, यह पुरुष मिथ्या सर्पसे डरा था, जब उसका निषेध करके सत्य वस्तुका उसको उपदेश किया तब बोध हुआ, यह दो प्रकारके पुरुष दृष्टान्तसे कहे अब तद्वत् दार्ष्टान्तिक सुनो :—

दो प्रकारके जिज्ञासु होते हैं। (१) तत्व जिज्ञासु (२) संसार भीरु। प्रथम अधिकारीने पूछा कि 'इदं किम्' अर्थात् यह दृश्य जात क्या है ? उस पुरुषके प्रति केवल इतना ही उपदेश आवश्यक है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् निश्चय करके यह सब नाम रूपात्मक दृश्य ब्रह्म ही है, बस इस विधि वाक्यसे पूर्ण अद्वैत ब्रह्म बोध हो गया, इसके अन्तर उस जिज्ञासुके प्रति निषेध मुख वाक्यों द्वारा उपदेश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। और फिर उपदेशकी विधि भी नहीं है।

दूसरा अधिकारी जो संसार भीरु है, वह प्रपञ्चसे डरता है इसलिये उसको श्रुति 'नेति नेति' अर्थात् यह इदन्ता गोचर दृश्य नहीं है, यह उपदेश करती है तदनन्तर उस अधिकारीको जिज्ञासा होती है कि यदि यह दृश्य नहीं है तो क्या है, उसके प्रति विधि मुख वाक्य द्वारा पुनः श्रुति उपदेश करती है कि 'इदं ब्रह्म' यह ब्रह्म है, 'तत्सत्यं तत् त्वमसि' अर्थात् वह सत्य है सो तू है, इन श्रुतियोंसे पूर्ण बोध हो जाता है और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सोहमस्मि' अर्थात् जिस कारणसे जो यह सब यह अपरोक्ष आत्मा (अपना आप ही) है

सो मैं ही हूं, इस प्रकार अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है, जिस प्रकार कि प्रथम पुरुषको मन्द अन्धकारमें रज्जु देख कर सन्दिग्ध सामान्य ज्ञान हुआ कि यह क्या है, पुनः उपदेशसे दृढ़ निश्चय हुआ कि यह रज्जु है तद्वत्। विशेष ज्ञानकी सामग्रीके अभाव हुए भी जो विशेष ज्ञान है सो भ्रम है, यह भ्रम दो प्रकारका है। (१) सम्वादी (२) विसम्वादी। जो वस्तुमें वस्तुत्वकी सम्भावना सो सम्वादी भ्रम और विपरीत भावना विसम्वादी भ्रम है, जैसे अन्धकारके होते हुए रज्जुमें जो रज्जुत्व सम्भावना है, सो सम्वादी भ्रम जानना चाहिये और रज्जुमें जो सर्प भ्रम है वह विसम्वादी भ्रम है, इसी प्रकार साक्षात्कारसे पूर्व, सवका ब्रह्मरूपसे ध्यान भी सम्वादी भ्रम है सो ही अभ्याससे साक्षात्कार दशामें प्रमाणित भी हो जाता है और जो जगत् रूपसे मानना विसम्वादी भ्रम रूप मिथ्या ज्ञान है उसका साक्षात्कारसे वोध हो जाता है।

सर्व विधि मुख तथा निषेध मुख वाक्योंका अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म साक्षात्कार करानेमें तात्पर्य है। इन दोनोंमें से विधिमुख वाक्य जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'आत्मैवेदंसर्वं' इत्यादिक हैं वे सर्व विशेषको सामान्य ब्रह्मरूप बोधन द्वारा निःसामान्य विशेष रूप अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म साक्षात्कार कराते हैं, तथा 'नेति नेति' 'नेहनानास्ति किञ्चन' 'अस्थूलमनणु' इत्यादि निषेध मुख वाक्य, सर्व विशेषोंके अत्यन्त अभाव बोधन द्वारा, सामान्य विशेष भाव विनिर्मुक्त अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार कराते हैं, यह दोनों प्रकारके वाक्योंका निर्विशेष ब्रह्मबोधमें उपयोग कथन किया।

(३) प्रश्न :—हे भगवन् शब्दमें क्या शक्ति है सो कृपा कर कहिये।

उत्तर :—शब्दमें तो अचिन्त्य शक्ति है, विचार करो कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिमें जो 'सर्वं' शब्द है, सर्वको सर्व शब्द सहित ब्रह्मरूपसे बोधन करती है, इससे 'सर्वं' शब्द ब्रह्मका वाचक न रहा, क्योंकि कहीं भी उससे पृथक् नहीं है, और जब वाचक न रहा तब वाच्य कुछ भी न रहा, इसलिये वाच्य वाचकता शब्दोंमें कुछ नहीं और बोध भी शब्दोंसे होता है, यह ही शब्दकी अचिन्त्य शक्ति है, तद्वत् सत् आदि शब्द लक्ष्य ब्रह्मको लखाते हैं परन्तु वह सत् आप ही लक्ष्य है इसलिये लक्षक कुछ पृथक् नहीं है और लक्ष्य भी पृथक् नहीं इससे लक्षक लक्ष्य कुछ बनते नहीं परन्तु शब्दसे लक्ष्यका बोध भी होता है यह ही शब्दकी अचिन्त्य शक्ति है। इत्योम्

(४) प्रश्न :—हे भगवन् अध्यासकी अत्यन्त निवृत्ति कैसे हो और निवृत्ति भी होवे तो प्रारब्ध भोग कैसे होगा ? मरणकालमें सर्व देह पीड़ा ज्ञानीकी निवृत्ति हो जाती है अथवा भोगनी पड़ती है ? और ज्ञानमें स्त्रियोंका भी अधिकार है या नहीं ?

उत्तर:—केवल अद्वैत आत्मतत्वके दृढ़ अभ्याससे अध्यास निवृत्त होता है, कुसङ्गसे बचना चाहिये, स्मृति वासनाका लिङ्ग है, स्मृतिसे ही वासना की वृद्धि होती है, असंसर्ग तथा निरन्तर ब्रह्मा-भ्यास ही निवृतिका उपाय है, उत्तरोत्तर अध्यास निवृतिके प्रयत्नसे पूर्व भूमिका जय होवे है, केवल ब्रह्माभ्याससे इतर जो समाधि आदिक उपाय हैं सो कठिन हैं तथा उनसे विशेष लाभ नहीं होता है।

अध्यास की निवृतिके हुए प्रारब्ध भोगना भी होगा, मरण काल का दुःख केवल रोग और तीव्र अदृष्टके अधीन है, ज्ञानसे विशेष सम्बन्ध नहीं है, तीव्र धारणासे दुःख थोड़ा भान होता है, मोटी वासना दैवी सम्पदासे दूर होती है और अति सूक्ष्म वासना तो देह पातके अनन्तर ही निवृत होती है, इसलिये ज्ञानीके प्रारब्धकी कल्पना की गई है, परन्तु ज्ञानी की दृष्टिमें अद्वैत आत्मासे प्रारब्धादि कुछ भिन्न नहीं है, यदि अज्ञान लेस अथवा प्रारब्धादि कुछ कल्पना करें तो ज्ञानीका सम्पूर्ण अज्ञान निवृत हुआ न समझो, तब ज्ञानका क्या फल हुआ ? इसलिये ज्ञानी सब कुछ अपने स्वरूपका चमत्कार ही मानता है भिन्न कुछ नहीं मानता है, परन्तु व्यवहारमें लोकदृष्टि से श्रुतिने भी ज्ञानीका प्रारब्ध कहा है:—

"तस्य तावदेवचिरं पावन्नविमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"

अर्थ यह है कि, तिस ज्ञानीके विदेह कैवल्यमें तब पर्यन्त देरी है जब तक देह नहीं छूटता है तदनन्तर सद्सम्पन्न (मुक्त) होगा, इसलिये विद्वान् की प्रवृत्ति भी प्रारब्धानुसार मानी है, सो केवल दुःख निवृत्तिके वास्ते होती है, सुख भोगोंके वास्ते नहीं होती, यदि सुख भोगोंकी इच्छासे प्रवृत्ति होवे तो दृढ़ राग जानो, पूर्व दृढ़ भावनाकी निवृति, उसकी विरोधी दृढ़ भावना करनेसे होती है, जहां राग होता है वहां प्रथम उस वस्तुका दर्शन स्मरण होनेसे उसमें इष्ट साधन ज्ञान होता है, फिर उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न होता है तब प्राप्ति होती है, सो इतनी प्रवृत्ति दृढ़ रागसे होती है। ज्ञानीके रागाभास द्वेषाभास माने जाते हैं। आत्मचिन्तन पूर्वक (दृढ़ आसक्ति रहित) रागद्वेष,

रागाभास द्वेषाभास कहलाते हैं, आत्मानुसन्धान रहित राग द्वेष मुख्य राग द्वेष हैं। स्त्री पुरुष समान ही ज्ञानके अधिकारी हैं, इनमें कोई भेद नहीं, आत्माका किया भेद नहीं और लिङ्ग शरीरोंका किया हुआ भी भेद नहीं है, इस जीवकी दृढ़ कल्पनासे इसका आतिवाहिक शरीर ही आधिभौतिक हो जाता है। देहमें अहं भावना से ही इस जीवको परतन्त्रता है यह न होवे तो यह आप ही ईश्वर है, परमात्माको भी स्त्री पुरुष दृष्टि नहीं है, वह केवल भक्तिको देखता है जैसा कि रामायणमें शवरीके इतिहाससे विदित होता है। ओम्

ओ३म्

(५) प्रश्नः—हे भगवन् ज्ञान प्राप्तिमें मुख्य हेतु क्या है?

उत्तरः—ज्ञान प्राप्तिमें मुख्य हेतु "श्रद्धा" है, और 'तत्पर' भी होना चाहिये। 'सदसच्चाहमर्जुन' यह भगवान्का वचन श्रद्धालुके लिये वहुत है, मन्द श्रद्धामें तो परीक्षा ही साक्षात्कारका मुख्य उपाय है, जैसे राजाके पास भोजनादिकी परीक्षा भी न रहे तो जीना ही कठिन है, तैसे यहां ज्ञानोपायके प्रसङ्गमें परीक्षा मननको कहते हैं, 'तच्चिन्तनं तत्कथनं' आदि अभ्यास तत्परता है। यह सव ही तव वन सकते हैं जव निर्वाहकी चिन्ता न होवे, श्रद्धा दृढ़ विश्वास को कहते हैं, श्रद्धासे ही प्राण भी प्रतिष्ठित हैं, पुनः पुनः अभ्यास कराने से भी जव श्वेतकेतुको वोध न हुआ तव छान्दोग्य उपनिषदमें "श्रद्धत्स्व" यह उपदेश किया पीछे श्रद्धा ही साक्षात्कारमें हेतु हुई।

ओम्

(६) प्रश्नः—हे भगवन् वेदान्तकी भाषामें योगकी पांचवीं निरुद्ध भूमिको क्या कहा है?

उत्तरः—योगमें जो पञ्चमी निरुद्ध भूमि है सो वेदान्तमें ब्रह्मावस्थान कहलाती है, "यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञः" इस श्रुतिमें "तद्यच्छेच्छान्तात्मनि" यहां पर्यन्त यच्छेत् शब्दका नियमन अर्थात् निग्रह अर्थ है लय अर्थ नहीं है, अत्यन्त सूक्ष्मता पर्यन्त शान्त आत्मामें निग्रह किया हुआ चित्त अचित्त होता है, और 'निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा' अर्थात् तब चित्तका ब्रह्मावस्थान होता है, जो चित्त था सौ अव अचित्त हुआ हुवा ब्रह्म रूप ही है, चित्त संसार है, अचित्तता ब्रह्मरूपता है। ज्ञानीके भी प्रारब्ध वश सुख दुःख भान तथा अहङ्कार होते हैं, ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, प्रारब्धके नाश हुए अहङ्कार भी निवृत्त हो जाता है, ज्ञानीका अहङ्कारादि वाधित हुआ है, ज्ञानीको सांसारिक ताप नहीं होते, अज्ञसे उसका इतना भेद है कि अज्ञवत् उस ज्ञानीके उद्वेग स्पृहा नहीं होते, भोगभाग सुख दुःख होता है, कपटका परदा दूर हो जाना चाहिये तब ज्ञान होता है। इत्योम्।

(७) प्रश्नः—हे भगवन् कपटका परदा क्या है और वह किस प्रकार उठता है ?

उत्तरः—मिथ्याभिमान कपटका परदा है, उसके रहनेसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, कपट दूर करोगे तो संसारकी हवा न मिलेगी, वास्तवमें परदा भी स्वरूपसे स्वयम् कुछ है नहीं, जो यह प्रत्यक्ष इदन्ता अहंता ममता रूप मिथ्याभिमान है यही कपटका परदा जानो, अपने आपको जैसे का तैसा जानना कि अद्वितीय अखण्ड पूर्ण सर्वात्मा मेरा अपना आपा है, निश्चय ही मानो परदा उठना है।

यह इदन्ता और तद्गत देश काल दिशा रूपी अन्यथा ग्रहण ही माया है, **'सतियस्मिन्नात्मा न प्रतीयते असतितु प्रतीयते सा माया यथा भासा यथा तमः'** यह मायाका लक्षण कहा, अर्थ इसका यह है कि जिसके विद्यमान हुए आत्मा नहीं भान होता है और अविद्यमान हुए प्रतीत होता है सो माया है, जैसे आभास और तम हैं। आभास ज्ञानमें दृष्टान्त है कि जैसे सूर्यके प्रकाश हुए रात नहीं रहती सूर्य ही है तैसे ही ज्ञान उदय हुए माया नहीं रहती माया रहित ब्रह्म ही है, मायामें राहु रूप तम दृष्टान्त है कि जैसे राहुसे ग्रस्त चन्द्र प्रतीत नहीं होता परन्तु राहुके निवृत्त हुए प्रतीत होता है ऐसे ही माया रूप अज्ञानसे आवृत्त आत्मा प्रतीत नहीं होता ज्ञानसे तम निवृत्त हुए स्वस्वरूप अखण्ड भासता है। कपट दूर करके सावधान होकर यत्न करना चाहिये, परमार्थ दर्शनसे इदन्ता अध्यास नहीं रहता, प्रह्लादवत् दृढ़ निश्चय रहना चाहिये। इत्योम्।

(८) प्रश्नः—हे भगवन् यह विषय दुःख स्वरूप हैं इनसे बड़ा विक्षेप होता है; इनसे निवृति किस प्रकार होवे सो कृपा करके कहिये—

उत्तरः—लोग कहते हैं कि विषय दुःख रूप हैं, परन्तु विचार करके देखा जाय तो विषय दुःख रूप नहीं हैं, यदि विषय दुःख रूप ही होवें तो सबको दुःख देवें परन्तु ऐसा नहीं देखनेमें आता, एक ही विषय किसीको सुखदाई है दूसरे को वही विषय दुःख देनेवाला है, दुःख भी सबको दुःख नहीं देता, जैसे शत्रुका दुःख तो सुख ही देता है, इससे ज्ञात हुआ कि मन ही सबको बांधता और दुःख देता

है। यदि कोई कहे कि तब तो मनका विषयसे विभाग कर देना चाहिये परन्तु मनका इन्द्रिय द्वारा विषयमें प्रवेश है और विषयका वासना द्वारा मनमें प्रवेश है इसलिये विषयसे मनका विभाग कैसे हो ? इस शङ्काका यों समाधान करते हैं कि विवेक द्वारा दृढ़ विचार करना चाहिये कि अविचारसे मन और बन्धादि भासता है विचार से बन्ध नहीं रहता, विचार यह ही है कि इदन्ता भ्रमसे कल्पित है, इदं रूपसे किसी वस्तुको न देखो, सब अहं रूप आत्मा तुम ही सत्ता स्फूर्ति स्वरूप हो। इदन्ता तथा देश कालादि कुछ नहीं है, अहं ही अहं है, जैसे बाह्य दृष्टिसे शिखर भासता है शिखर पर आरूढ़ होने से तुम ही तुम हो, शिखर पृथक् बाह्य वस्तु कुछ नहीं है, इसी तरहसे जब इदन्ताका बाध करके सबके अहं, सबकी सत्ता स्फूर्ति आप हुए तब मन और दुःख कहां है ? स्वस्वरूप आत्मासे भिन्न सुख भी कुछ कहीं होता, ज्ञानसे केवल भेद दृष्टि निवृत्त होती है सो ही दुःख निवृत्ति है, शेष अद्वितीय अखण्ड आनन्द स्वरूप अपना अनुभव है। आप केवल सुख है, दुःखसे दबा हुआ है इसी कारणसे दुःखसे द्वेष होता है और दुःख भी अध्यास मात्र है वास्तवमें है नहीं, इसलिये सर्वदा सुख ही सुख है। इत्योम्

(६) प्रश्न—हे भगवन् ! इस समयमें विचारवानको कौनसा मुख्य आश्रय सेवन करने योग्य है ?

उत्तर—त्याग ही मुख्य आश्रय है, विचारसे देह अभिमानके त्यागनेको ही त्याग कहते हैं, यह मलिन देह आत्मत्व अभिमानके योग्य नहीं है किसी प्रकार भी देह अध्यास की योग्यता

नहीं है। आज कल कोई इस योग्य न मिलेगा जिससे अपने मनकी दशा कह कर शान्ति करली जावे, इसलिये भी त्याग ही आश्रय करने योग्य है। यदि ज्ञानी है तो क्यों इस मलके बोझको ढोता है ? इस देहसे बढ़ कर अन्य वैराग्यका साधन क्या है ? अन्तर वाहर शौच भी इसी वास्ते है **'परैरसं-सर्गः स्वांगजुगुप्सा शौचात्'** अर्थ यह है कि—परसे असंसर्ग और अपने शरीरसे ग्लानि, शौचके साधनसे होती है। त्यागका फल शान्ति है सो श्री गीताजी में कहा है **'तद्वत् कामाऽयँ प्रविशन्ति सर्वे सशान्तिमाप्नोति न काम कामी'** अर्थात् तद्वत् सर्व भोग ज्ञानीके समीप प्राप्त होते हैं वह ज्ञानी (हर्ष विषादसे रहित हुआ) शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी इच्छा वाला ऐसा नहीं होता, उसको हर्ष विषाद होते रहते हैं। व्यवहारमें सङ्कोचका ही नाम त्याग है, अत्यन्त आवश्यकसे अतिरिक्त किसी पदार्थमें आसक्ति न रखना ही त्याग है, यह भी जिसको अभ्यास नहीं है उसको कठिन प्रतीत होता है; जैसे मांस खाने वालोंको उसका त्याग कठिन ज्ञात होता है, परन्तु अन्योंको उससे वमन होता है। जो पुरुष त्याग नहीं कर सकता उसको ही श्रुतिने कृपण कहा है, क्योंकि वह परलोकको सामग्री त्याग नहीं सकता है साथ लिये हुए जाता है इस लिये कृपण है। ज्ञानी उदार होता है त्यागी होता है। उदारता अकसर आत्माके ज्ञानीको होती है, उसने अहं अभिमान सहित आसक्तिको त्याग करके सबको स्वस्वरूपसे निश्चय किया है, वह जानता है कि दृष्टा दृश्यका कोई सम्बन्ध बन नहीं सकता, क्योंकि एक ही अद्वितीय ज्ञप्ति मात्र सत्ता, अविद्यासे उभयात्मक भान होती हैं, वास्तवमें दृश्य भी

द्रष्टाका स्वस्वरूप है इस लिये इन दोनोंका परस्पर कोई भेद सम्बन्ध नहीं, किन्तु विविध रूपसे कल्पित भी, एक ही अखण्ड अद्वितीय आत्मसत्ता है। ओ३म्

(१०) प्रश्न—हे भगवन् मनुष्यको क्या कर्त्तव्य है कृपा करके कहिये।

उत्तर—विषय सुख प्राणी मात्र चाहता है, परन्तु उसके वांस्ते कुछ कर्त्तव्य नहीं है, जिस प्रकार दुःख सबको बिना बुलाये प्राप्त होता है इसी प्रकार सुख भी प्राप्त होता है देखो भोग सुख तो मनुष्यों से अधिक पशुओंको प्राप्त है, क्योंकि मनुष्य पशुओंकी सेवा करते हैं इस लिये भोग ही करते रहना मनुष्यत्व नहीं है, किन्तु विचारना चाहिये कि दुःख रूप तो सारा संसार ही है तथा यह सब संसार अज्ञान मूलक है और दुःखकी कोई इच्छा नहीं करता है, इसलिये मूल अज्ञान सहित जो अज्ञानका कार्य पुनर्जन्म रूपी दुःख, उसकी निवृत्तिके लिये ही मनुष्यको यत्न कर्तव्य है, इस कर्तव्य-पालनके लिये तीनं साधन हैं—

(१) प्रथम सन्तोष मुख्य साधन है सो भगवान् ने गीतामें कहा है।

'यदृच्छा लाभ सन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।'

(२) धैर्य भी रखना चाहिये जैसा भगवान् कहा है—

'सिद्ध्या सिद्ध्यौ समौ भूत्वा'

(३) भगवत् शरण—यह सब साधनोंसे अति आवश्यक है, सो भगवान् ने कहा है।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

'वासुदेवः सर्वमिति' प्रथम दोनों साधनोंसे विना शेष तीसरा साधन होना कठिन है।

(४) उत्तम आचरण, माता-पिता पति आदिककी सेवा तथा दया, अनिन्दित आजीविका पूर्वक निर्वाह कर्तव्य है, सर्व अन्नकी शुद्धि भगवत्‌को अर्पणसे होती है, गृहस्थको इन साधनों पूर्वक तृष्णा रहित आजीविका मात्र अनिन्दित कर्म तथा नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुए ज्ञान हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है। इत्योम्

(११) प्रश्न :—हे भगवन् आजीविकाके उपार्जनमें श्रम होता है तथा विक्षेप होता है और विक्षेपकी निवृत्तिके लिये ही पुरुषार्थ है, सो विक्षेपकी निवृत्ति व्यापार करते हुए कैसे सिद्ध होवे ?

उत्तर—विक्षेपकी निवृत्तिके वास्ते तो केवल आत्म-ज्ञान ही उपाय है अनिवार्य भोजनादिके वास्ते जो व्यापार है सो अनिन्द्य होना चाहिये उसमें विक्षेप न मानना चाहिये यह धर्मके अन्तर्गत है, अन्य क्षुधा शीतादिसे अन्य विक्षेपोंका निवर्त्तक हैं श्री वशिष्ठजीने कहा है :—

'अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यंकुर्यादाहारं प्राणसन्धारणार्थं प्राणं सन्धारयात्तत्वजिज्ञासनार्थं तत्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥'

अर्थ यह है—यहां आहारके लिये अनिन्द्य कर्म कर्तव्य है और प्राण रक्षार्थं आहार कर्तव्य है (भोगार्थ नहीं) और प्राणोंकी रक्षा

कर्तव्य है तत्वकी जिज्ञासाके लिये और तत्वकी जिज्ञासा करनी योग्य है, जिससे पुनर्जन्म मरण रूप दुःख फिर न होवे। इत्योम्

(१२) प्रश्न—हे भगवन् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुतिने जो सर्वको ब्रह्मरूप कहा है सो कैसे है, निरूपण कीजिये।

उत्तर—जो उत्पत्ति नाश वाला है सो अनात्मा है जैसे घट है, सत् वस्तु और असत् वस्तु दोनोंकी उत्पत्ति नहीं होती और प्रतीती सदा सत्की होती है, असत्की प्रतीती हो तो शश शृङ्गकी भी होनी चाहिये नामरूपकी प्रतीती नहीं होती, अध्यास मात्र होता है, प्रतीती ब्रह्मकी ही होती है इस लिये निश्चय करके सर्व यह ब्रह्म ही है, यह श्रुतिका तात्पर्य है। इत्योम्

(१३) प्रश्न—'शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशु वत्। जगच्छक्त्यात्मनात्मैव ब्रह्म स्वात्मनि सँस्थितम्

हे भगवन् योगवासिष्ठके इस पूर्वोक्त श्लोकका तात्पर्य अर्थ कृपा करके कहिये।

उत्तर—इस श्लोकका अर्थ यह है, कोई शक्ति अकारण ही मणि किरणोंकी न्यायी स्फुरण होती है, जगत् शक्तिके स्वरूपसे आत्मा ही ब्रह्म अपने स्वरूपमें सम्यक् स्थित है इसका तात्पर्य सुनो—

जिस प्रकार शब्द सदा मुखसे बोला जाता है और कानसे सुना जाता है परन्तु अन्य इन्द्रियसे ग्राह्य नहीं है, तैसे ही घट भी किसी इन्द्रियसे ग्राह्य नहीं। रूपका आश्रय, स्पर्शका आश्रय और गुरुताका आश्रय भी घट नहीं किन्तु मृत्तिका ही है, इसलिये घटको मृतिका मात्र होनेसे मृतिकासे भिन्न घट नाम मात्र है, इसी तरह मृत्तिका भी परमाणु मात्र है और परमाणु भी इन्द्रिय गोचर नहीं सो तो कारण

रूप जल मात्र ही है, इसी तरह जल स्वकारण तेज मात्र है, तेज वायु मात्र है वायु आकाश मात्र है और अन्तमें वास्तव कारण सत्ता मात्र ही है। इस कथनसे सारा जगत् तो शब्द मात्र ही सिद्ध हुआ अर्थ उसका कोई नहीं है, अगर सार्थक करना चाहते हो तो अर्थ केवल सत्ता मात्र ब्रह्म ही है, ब्रह्म और जगत्का अर्थ एक ही है, इसलिये ब्रह्ममें सबका अत्यन्ताभाव है परन्तु ब्रह्मसे भिन्न कोई नहीं है, इसलिये अन्य अगर कुछ मानोगे तो वह ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न सत्ता वाला कुछ आप अपने स्वरूपसे पृथक् नहीं रह सकता, अगर घट कुछ हो तो वह ब्रह्म ही है, जगत् और ब्रह्म एक ही वस्तु है यह वशिष्ठजीने कहा है। इत्योम्

(१४) प्रश्न—सुषुप्तिमें भी अज्ञान ब्रह्मसे एकीभूत हुआ, ब्रह्मसे इतर कुछ नहीं है; और समाधिमें भी ब्रह्म भाव ही रहता है इसलिये सुषुप्तिको भी समाधिकी न्यायी पुरुषार्थ रूप मानना चाहिये इन दोनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—निद्रामें मन अज्ञान-लीन होता है, परन्तु समाधिमें मन ब्रह्ममें निग्रहीत होता है, अर्थात् ब्रह्माभिन्न साक्षि भावमें स्थित होता है अज्ञानमें लीन नहीं होता है, और विद्वान्का अज्ञान बोधसे बाधित हो चुका है, इस लिये उसकी सर्व काल समाधि ही है। जब निद्रा आती है तब वह प्रथम मस्तकमें आती है, पीछे नेत्रोंमें पीछे ग्रीवामें और फिर सारे शरीरमें आ जाती है, देह गिर जाता है, परन्तु समाधिमें देह गिरता नहीं है पञ्चदशीमें कहा है—

सर्वात्मना विस्मृतः सन् सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोपि नो पतेत् ॥

अर्थ यह है कि—सर्व प्रकारसे विस्मृत हुआ मन परम सूक्ष्मता को प्राप्त होता है, लीन न होनेसे यह निद्रा नहीं है तिससे देहका पतन भी नहीं होता है ।

जो सुषुप्तिसे उत्थान होनेपर सुख और अज्ञानकी स्मृति मानते हैं सो पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि स्मृतिका विषय परोक्ष और स्मरण-कर्त्तासे भिन्न हुआ करता है, सुषुप्तिमें अनुभवकर्ता चेतनसे सुख अन्य नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप ही है इसलिये उसकी स्मृति नहीं हो सकती और अज्ञान भी परोक्ष नहीं किन्तु एकीभूत है इस लिये उसकी भी स्मृति नहीं । प्रथमके जगत्‌की भी सुषुप्तिसे प्रबुद्धको प्रतीति नहीं होती, अन्यथा जगत् त्रिकाल-अवाध्य सत्य हो जावेगा, इसलिये सब कुछ नया-नया भासता है, वासना रूप पूर्वके सजातीय संस्कारोंसे वैसा संसार नया ही नया स्फुरण होता है । प्रारब्ध फल जिस काल भोग देनेके सन्मुख नहीं होता उतने काल विक्षेप निवृत्त हो जाता है, विक्षेप अज्ञानमें लीन होता है अज्ञान सुख स्वरूप ब्रह्म में एकीभूत होता है, परन्तु वह अज्ञान बाधित नहीं है इसलिये संसारका हेतु होनेसे सुषुप्ति पुरुषार्थ रूप नहीं है । इत्योम्

(१५) प्रश्न :—हे भगवन् 'आत्मेत्येवोपासीत्' इस श्रुतिका क्या अर्थ है ?

उत्तर :—'आत्मेत्येवोपासीत्' यह विद्या सूत्र कहलाता है, इसका अर्थ यह है कि 'आत्मा इति' अर्थात् आत्मा आत्म शब्द, आत्म

प्रत्यय इन दोनोंसे विनिर्मुक्त 'एव' अर्थात् अन्य अनात्मा रहित है, ऐसा जान कर 'उप आसीत्' कूटस्थ अचल रूपमें स्थित होवे। तद्वत् 'ब्रह्म विदाप्नोति परं' यह ब्रह्म विद्या सूत्र है, इससे आगे इसी श्रुतिमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ब्रह्मकी व्याख्या है, इससे आगे अनु-व्याख्या है। 'यो वेद निहित गुहायां' इस श्रुतिसे ब्रह्मवित् पदमें जो वित् शब्द है उसका अर्थ कहा कि जो बुद्धि रूप गुहामें प्रविष्ट ब्रह्मको 'सो मैं कहूं' इस प्रकार जानता है।

इससे आगे 'सोश्नुते सर्वान्कामन्सह विपश्चितेति' इस श्रुतिसे 'आप्नोति परम्' इन पदोंकी व्याख्या की है, आगे 'अनन्तम्' पदको सिद्ध करनेके लिये यह दिखाया कि उत्पन्न हुआ कार्य सब कारण रूप ही है :—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सँभूतः'

इत्यादि श्रुतियों द्वारा कार्य उत्पत्ति स्थिति लय, कारण रूप ब्रह्म ही है यह दिखाया इसलिये जो कारण रूप ब्रह्म है सो अनन्त है यह सिद्ध हुआ। इत्योम्

(१६) प्रश्न—हे भगवन्!

यानिशा सर्व भूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

इस गीताके श्लोकका भावार्थ निरूपण कीजिये।

उत्तर :—इसमें यह विचार है, सब ज्ञानी अज्ञानी पुरुषोंकी दो वृत्तितां होती हैं, एक ब्रह्माकार वृत्ति और दूसरी जगदाकार वृत्ति, ज्ञानी के ब्रह्माकार वृत्ति न होवे तो किस की सत्ता

स्फूर्तिसे उसको जगत का भान होवे ? क्योंकि ब्रह्म की सत्ता स्फूर्ति विना जगत्‌का भान नहीं हो सकता, भेद इतना ही ह कि अज्ञानियोंके ब्रह्माकार वृत्ति प्रसुप्त है ज्ञानी उसमें जागते हैं और जिस अविद्या तत्कार्यमें अज्ञानी जागते हैं, सो अविद्या तत्कार्य ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अत्यन्ताभाव रूपसे होने से, तथा निशा-वत् अप्रवृत्तिका विषय होनेसे संयमी मुनि उसकी ओरसे प्रसुप्त है।

ओ३म्

(१७) प्रश्न—हे भगवन् श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌के उपदेश का अर्जुनके प्रति क्या निश्चय करानेमें तात्पर्य है, सो संक्षेपसे कथन कीजिये।

उत्तर—भगवान् कृष्णका कथन है "मत्तः परतरं नान्यत" "सदसच्चाहमर्जुन" अर्थात् मेरेसे भिन्न अन्य कोई नहीं है—तथा लोकानुसार अव्यक्त, व्यक्त, वा कारण कार्य सब, हे अर्जुन निर्विशेष मैं ही हूं, इस उपदेश का यही तात्पर्य है कि यावत अहं है सब कृष्ण की अहंके अन्तर्वर्ति है, तब फिर कृष्णसे इतर अन्य कहा है, मैं भिन्न कौन हूं सब कृष्ण ही है, और कुछ कृष्णसे भिन्न मानना ही मिथ्या ज्ञान है—जब कृष्णका ज्ञान समझ लिया तो समझनेवाला आप कृष्ण हुआ। 'सर्वोहं' 'कृष्णोऽहं' के साथ, परिछिन्न देहमें अहं भाव रखना मिथ्या अभिमान है, इस परम निश्चयके हुए,-'देहोहं को अवकाश कहां है ? ज्ञान हुए पीछे जो भासे सो भासो, वस्तुतः वह भी सच्चिदानन्द कृष्णका स्वरूप ही है। "जो कुछ है सब मैं हूं' ये ही यथार्थ ज्ञान भगवान् कहते हैं "सदसच्चाहमर्जुन"

इस उपदेशसे कृष्णने सबको अपने अन्तर ले लिया फिर अलग 'मैं' कहां है, ईश्वर की ही मैं तो हैं, और जब वही कहता है कि सब मैं हूं, फिर अलग क्यों मानते हो ? ऊँच द्विज भी नीच यवनों में मिल कर अपनेको यवन ही कहता है, तुम कृष्ण होकर अपनेको कृष्ण क्यों नहीं समझते ? परिछिन्न क्यों समझते हो। निर्विशेष अनुस्यूत अद्वैत सत्ता यानी सत्ता मात्र अपने आपको क्यों नहीं समझते कि आदि मध्य अन्त सबमें ही हूं, फिर क्या जरूरत शेष रह गई है ? सर्व सार निश्चय यह ही है, कि नीचे ऊपर दक्षिण पश्चिम उत्तर पूरब सर्व भगवत् ही है, सर्व ओर भगवत् ही देखना, एक अखण्ड अद्वितीय भगवत् से भिन्न कोई राई मात्र वस्तु नहीं है, दूसरा देखना भ्रान्ति है। तात्पर्य क्या है कि भगवत् ही देखे, भगवत् ही सुने, भगवत् का ही स्मरण करे, एक परमात्मा ही देखना दूसरी वस्तु ही नहीं। अगर कोई दूसरी बात मानो तो अपने शिर पर बोझ डालना है, इस वास्ते जो देखो भगवत् ही देखना चाहिये, आपको बन्ध मानो नहीं और मोक्षकी इच्छा करो नहीं, अगर सूर्य पश्चिमके बदले उत्तरकी ओर चले तो चले, गङ्गाका प्रवाह ऊपरको ओर जावे तो जावे, शरीर कट जावे तो कट जावे मगर यह निश्चय न डोले, तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, यही गीताके उपदेशका तात्पर्य निश्चय और उसका शांतिरूप फल कहा।

(१८) प्रश्न—हे भगवन् ब्रह्मज्ञानीकी समाधि कैसे होती है, सो कृपा करके वर्णन कीजिये। उसका व्यवहार अर्थात् शरीर यात्रादि क्रिया भी कैसे होती है ?

उत्तर—सब चराचरात्मक भूत जात ब्रह्मस्वरूपावस्थान रूपी समाधिमें स्वभाव से ही स्थित हैं कोई कदापि व्युत्थानको नहीं प्राप्त हो सकता। वृक्ष पाषाण जड़ चेतन सब ज्योंके त्यों ब्रह्म स्वरूप निर्विकल्प दशामें हैं, अज्ञानकी महिमासे जीवोंको समाधिमें व्युत्थानका भ्रम हो रहा है, अक्रियमें क्रियाका अध्यास हो रहा है, समाधिमें ही विद्वानका व्यवहार भी बन जाता है, क्योंकि उसके निश्चयमें तो अधिष्ठान आत्मासे इतर कुछ वस्तु है नहीं। कान नाक मुखको दबानेसे किसीकी समाधि लग ही नहीं सकती है, जो समाधि पहिले सदासे ही लगी हुई नहीं है उसको कोई लगा नहीं सकता, स्वरूपसे लगी हुई समाधिसे कोई व्युत्थान नहीं कर सकता। प्राण सदा अधिष्ठान रूपसे अचल हैं चल नहीं सकते, लोगोंको अचलमें चलनेका भ्रम हो रहा है, कोई भी पुरुष अपनी चिन्मात्र सत्ता स्वरूपमें स्थिति रूपी समाधिसे हिल नहीं सकता है, अत्मामें अनात्माका अध्यास है सो विचारसे निवृत्त करो। कुछ कर्तव्य नहीं है केवल ज्ञातव्य है, क्योंकि "प्रचारः सतुविज्ञेयः" ऐसा लिखा है, अर्थात् निर्विकल्प मनका ब्रह्मावस्थानरूप जो प्रचार है सो तो विज्ञेय है अर्थात् जानने योग्य निश्चय है, कुछ क्रिया कर्तव्य नहीं है। सर्व अखण्ड अद्वैत आत्मा अपना आप ही है उसमें कभी द्वैत हुआ ही नहीं, ये ही परम निश्चय रूप समाधी हैं।

यह ही छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है :—

"यत्र नान्यत्पश्यति न न्यच्छृणोति···सभूमा"

इसका तात्पर्य यह है कि भूमा अकर्म है सर्व दर्शनादि क्रिय विनिर्मुक्त है जो तू पूछे कहां प्रतिष्ठित है सो मैं क्या कहूं तुम भ ही कह लो कि अपनी नाम रूपात्मक महिमामें है, मैं ऐसा नहीं कहता, क्योंकि अन्यमें ही अन्य प्रतिष्ठित हुआ करता है, इसलि महिमामें भी प्रतिष्ठित कहना नहीं बनता, बस वह आप ही आ है। ओम्।

ओ३म्

(१६) प्रश्न—हे भगवान् अद्वैत ब्रह्मज्ञाननिष्ठा बहुत कठिन ज्ञा होती है और अति दुर्लभ है, इसमें क्या कारण है और इस निष्ठ प्राप्तिमें कौन साधन कारण हैं, तथा उस निष्ठाका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—ज्ञान निष्ठामें श्रद्धा मुख्य हेतु है सो कह चुके हैं, श्रद्ध और तत्परतासे ही ज्ञान निष्ठा होती है, इस लिये दुर्लभ है, गु शास्त्र आत्माको लखा नहीं सकते, कुछ दिग्दर्शन कराते हैं यह आ ही अनुसंधान करते-करते परमात्माके अनुग्रहसे कुछ अलौकिक सम जाता है, क्योंकि परमात्मा इसका अपना आप है। गुरु शा अकारण ही कारण माने गये हैं, जैसे योग वासिष्ठमें किराटोपाख्या में दिखाया गया है, कि एक किराटको अपनी खोई हुई कौड़ी खोज खोजते अकस्मात् चिन्तामणि मिल गई, सो कौड़ी चिन्तामणि प्रा में कारण नहीं हो सकती, परन्तु कारण मानी गई।

श्रीवसिष्ठजी ने यह भी कहा है कि, **'ज्ञप्तेस्तु कारणं रा शिष्य प्रज्ञैव केवला'** अर्थात् हे राम ज्ञानमें तो शिष्यकी केव

शुद्ध प्रज्ञा ही कारण है। अन्यत्र श्रुतियां कहती हैं, 'ततस्तु तँ पश्यति निष्फलँ ध्यायमानः' अर्थात् उसके अनन्तर तो ध्यान शील हुआ, उस निष्फल आत्माको साक्षात्कार करता है, 'यमेवैष बृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषात्मा बृणुतेतनूंस्वाम्' अर्थात् जिस अधिकारीको ही यह आत्मा वरता है (स्वीकार करता है.) तिस आत्मानुग्रह से ही यह आत्मा लभ्य है, तिस अधिकारीको यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकाशता है। चूडालाके उपाख्यानमें शिखि-ध्वजका तप भी व्यर्थ नहीं गया, उसीसे कषाय परिपाक होकर ज्ञान हुआ। भक्ति वैराग्य और ज्ञान साथ-साथ रहते हैं, भक्तिसे ही वैराग्य के साथ-साथ ज्ञान हो जाता है जैसे कि भोजनसे उदर पूर्ति, क्षुधा निवृत्ति, तथा अङ्गपुष्टि साथ-साथ होते हैं। चतुःश्लोकी भागवत में ब्रह्माजीके प्रति यही ज्ञान उपदेश हुआ था, कि "आदि मध्य अन्त और शेष सव मैं ही हूं" यह स्थिति ही परम अद्वैत ज्ञान निष्ठा है, जिसके प्रतिवंधक पाप हैं उनको कठिन और दुर्लभ है और अपने पुरुषार्थ तथा ईश्वरानुग्रहसे सुगम ही है।

(२०) प्रश्न—हे भगवन् शान्तिका परम उपाय क्या है ?

उत्तर—आप असंग रहना और अपनेको सदा असंग ही सम-झना चाहिये, हम दोनों साथ चलते हैं तब दो निश्चय होते हैं और अकेले चलते हैं तब एक निश्चय होता है इसी प्रकार अपने आपको सर्वदा असंग समझो, कोई कर्तव्य अपने में न आरोप करो, यही

शांतिका परम उपाय है। जिस प्रकार सीपीमें जब रजत भरम होता है तब उसमें प्रवृत्ति नहीं होती, और जैसे, रज्जुमें सर्पके भ्रमसे उसीसे पलायन करते हैं और उससे निवृत्ति होती है, यदि सर्प भ्रम न होवे तो भागनेकी क्या जरूरत है, ऐसे ही संसारमें विधि निशेध रूप प्रवृत्ति और निवृत्तिका आश्रय भ्रम है।

जब तक द्वैतमें मिथ्यात्व बुद्धि नहीं हुई, देह जगतकी सत्यताका भ्रम निवृत्त नहीं हुआ तब तक विधि निषेध है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान निवृत्त हुए पीछे प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दोनों क्रिया नहीं होती है, इस हेतुसे तत्त्व निश्चय करके, प्रवृति निवृत्ति दोनोंमें कर्तव्य रहित होकर, अपने आपको अद्वितीय शिव समझो, यह दृढ़ निश्चय ही शान्ति का परम उपाय है। शास्त्रमें कहा है कि **"संसार व्यापृतित्यागे तादृग् बुद्धिस्तु विश्रमः"** अर्थात् सर्व संसारके कर्तव्यको त्याग कर वैसी बुद्धि विश्रांति है, **"ममेदं कर्तव्यं अन्यथा प्रत्यवायीस्यां"** अर्थात् मुझे प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति कर्तव्य है अन्यथा मैं प्रत्यवायी (पापी) होऊंगा, इस बुद्धिको कर्तव्यता कहते हैं, स्वरूपमें इस ग्रहण त्याग रूप कर्तव्यता की अत्यन्त निवृत्ति ही माननी योग्य है। अपना आपा अखण्ड आत्मा है, उसमें अन्य बुद्धि भ्रम है, तब ग्रहण त्याग कहां है। वसिष्ठजीने कहाः— **"मौनी वशीविगतमान मदो महात्मा कुर्वन्स्वकार्य-मनहँकृति रेवतिष्ठ"** अर्थात् मौनी (निष्प्रयोजन व्यर्थ सभाषण न करनेवाला) वशी (मन इन्द्रिय वशमें है जिसके) मान और

दंभसे अतीत, स्वकार्य करता हुआ (देह रक्षा वा आत्मचिन्तन कर्ता हुआ) अहङ्कार रहित (इसलिये) महात्मा हुआ स्थित हो—"

मन, सुखके कुपाच्यमें वा अन्य प्रकारसे उद्विग्न हो तव भी अपने आपको असंग ही समझे, सुखसे बैठे विठाये व्यर्थ चंचलता उदय होनी सुखका कुपाच्य जानना चाहिये, आकाशमें पूर्वी पछवा आदि अनेक प्रकार की वायु चलती हैं, परन्तु आकाश सर्वथा असंग है, इसी प्रकार अपने आपको स्वरूपसे सदा असंग जानो।

"असगोह्ययंपुरुषः" यह श्रुति है, परन्तु असङ्गता अन्य के अभावसे है, श्रीरामजीने वसिष्ठजीसे पूछा था कि परम दृष्टि क्या है और निर्दोष क्रिया कौन सी है, तो 'शिवोऽहँ' निश्चय ही केवल निर्दोष निकला, काल क्षेपनके वास्ते तो ज्ञानाभ्यास ही परम उपाय है, 'तत्कथनँ तच्चिन्तनँ' इत्यादि ब्रह्माभ्यास कहलाता है। नित्य निरन्तर अद्वितीय निर्विशेष असङ्ग ही, स्वस्वरूप चिन्तन करते रहना चाहिये, अज्ञात ब्रह्ममें दृश्यका अध्यास है, जब ज्ञात हुआ तब अध्यास कहां ? आनन्द ही आनन्द है।

(२१) प्रश्न—हे भगवन् मृत्यु किसको कहते हैं और मृत्युसे छूटनेका क्या उपाय है ?

उत्तर—स्थूल देहसे सूक्ष्मलिङ्ग शरीरके वियोगको मृत्यु कहते हैं, परन्तु वस्तुतः अज्ञान ही मृत्यु है, आत्मा अमृत है आत्मा अज्ञान से आच्छादित हुआ भ्रमसे मानो मृत्युको प्राप्त हुआ भासता है, जहां मृत्यु है वहीं अमृत है। मृत्यु से सब भागते भी हैं, परन्तु यदि डरते तो सब उपाय क्यों न करते ? मृत्यु सदा शिर पर है, मृत्युको लोग

देखते नहीं देह पड़े हुए को मृत्यु कह देते हैं। यदि मृत्युको देखें तो अन्न भी अच्छा न लगे तब भोग कहां बन सकते हैं "मैं कब तक इस अज्ञानसे वार वार जन्म मरण दुःख प्रवाहमें पड़ा रहूंगा।" यह तीव्र उद्वेग ही मानो मृत्युको देखना है, विचारसे यथार्थ निश्चय ही उपाय है। अज्ञान रूप मृत्युका कार्य जो देह भोग और सम्बन्ध है सो मृत्यु ग्रस्त है, आत्मा असङ्ग हुआ भी उनके अभिमानसे अपने आपको मरणवाला मानता है, तथा भोगसे भोक्ता और सम्बन्धसे सम्बन्धी मानता है। अज्ञानसे ही प्रमाद होता हैं इसलिये प्रमादको भी मृत्यु रूप कहा है, सावधान होकर प्रमाद रूप मृत्युको त्यागो सो शास्त्रमें कहा है।

"प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यँ कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः

अर्थ यह है कि ब्रह्म निष्ठामें प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये— ब्रह्मवादी जन विद्यामें प्रमादको मृत्यु कहते हैं-सर्वदा काल "अपने सहित सर्व अद्वितीय अखण्ड है" इस निश्चयमें सावधान रहो।

जिस प्रकार भोगाशासे मक्खी शहदपर बैठकर फंस मरती है सो शहद उसका मृत्यु है इसी प्रकार आत्मा अपने आपको भोक्ता जीव मानता हुआ भोग सम्बन्धसे फंस कर प्रमादका (स्वरूप के विस्मरणसे) मृत्युका ग्रास हो रहा है।

विचार द्वारा इच्छाको त्याग कर अमृत अभोक्ता होना चाहिये यह ही इच्छा त्याग पूर्वक अद्वैत अमृत स्वरूप निश्चय, वर्तनेमें आवेगा, सैकड़ों ब्रह्म कथन करनेवालोंमें से कोई एक ही विरला

पुरुष इस निश्चयको व्यवहारमें लाता है इसलिये ज्ञानका फल स्पष्ट देखनेमें नहीं आता। इस हेतुसे प्रमादका त्याग करके सावधान रहना चाहिये यह ही मृत्युके तरणका उपाय है सो कहा; स्वरूप से यह अभोक्ता है इसीमें इसकी बड़ाई है भोगोंको न्यून करते करते अभोक्ता ही निश्चय करना चाहिये, देह सम्बन्ध आदिसे आत्मा असङ्ग मानना चाहिये ज्ञानको व्यवहारमें लाना चाहिये, जिनके भरण पोषणमें आयु गंवाता है अन्तको जानेगा कि मैं उनसे ठगा गया। लौकिक जीना दुखदायक है और मरना सुखदायक है, अपने आपको भोगोंसे मरा हुआ जानना चाहिये तो जीता ही है, यह ही असली जीना है, मरणसे इसको इस वास्ते भय होता है कि यह पूर्व कभी अमर भाव निश्चय कर चुका है, सो अव भी मरणसे बचनेकी आशा है। पूर्व भी असम्बन्ध था अन्तमें भी असम्बन्ध होता है बीचमें सम्बन्ध कहांसे सत्य हो सकता है, ऐसा विचार कर सर्वदा असङ्ग निश्चय दृढ़ रखें, जानते हुए भी सावधान न हो तो दुःख ही फल पावेगा।

(२२) प्रश्नः—हे भगवन् विचार सम्पादन करते हुए और वृद्ध होकर भी सत्सङ्ग और एकान्तको छोड़कर पुनः पुनः जो अपने पुत्र पौत्र गृहादिमें जानेकी इच्छा होती है सो इसमें क्या कारण है ?

उत्तरः—विचार करना चाहिये कि गऊको अपने बच्चे से स्नेह क्यों होता है ? इसका उत्तर यह ही हैं कि पूर्व कभी उस बच्चेने ईश्वराराधन किया था, इसलिये, कर्म फल प्रदाता ईश्वरने गऊको प्रेरणा करके उस बच्चेकी रक्षा की है। इसी प्रकार सब माता पिता

आदिक सुहृदोंको अपने पुत्रादिकोंकी सेवा करनी पड़ती है, जैसे कि कोई पुरुष जन्म भर कमाता-कमाता किसीको गोद लेकर मर जाता है और वह पीछे मजे उड़ाता है उसको अपने पूर्व सुकर्मोंका फल मिला है यह जान लेना चाहिये। वृहदारण्यक उपनिषदमें लिखा है, कि इस जीवके पुनर्जन्मसे पहिले ही माता पिता आदिक वन्धु प्रतीक्षा करने लगते हैं कि हमारे बालक होगा गर्भ है और उसके सुख का प्रवन्ध करते हैं, तद्वत् पुत्र पौत्रादिकोंके पुण्यसे बन्धे हुए, स्नेह पाशसे छूटना कठिन हो जाता है प्रबल विचारसे स्नेह त्यागना चाहिये।

(२३):प्रश्न—हे भगवन् इस समयके अपनेको विज्ञानी माननेवाले बहुतसे जन यह कहते हैं कि इच्छा त्याग और शांति ने ही भारतवर्ष को दुर्दशामें डाला है, उद्योग रसायन विद्याको सीखकर देशोन्नति करनी चाहिये; जन्म मरण अवश्य होता है, मोक्षकी इच्छा रूप कुकल्पनाको छोड़ना चाहिये, जन्म मरणसे कोई नहीं छुट सकता वेदान्त विचार से आलस्य और अकर्मण्यका स्वभाव हो जाता है सो यह उनका कथन कहां तक उचित है, आप कृपा करके कथन कीजिये।

उत्तरः—मनुष्य की इच्छा कव पूरी होती है? अर्थात् कभी भी पूर्ण नहीं होती, रात्रिको सोनेके समय यह सोनेकी इच्छा करता है जागना नहीं चाहता, परन्तु जागना पड़ता है, सोनेकी इच्छा बिना कुसमय निन्द्रा आ जाती है, विना इच्छाके ही मृत्यु होती है, इच्छा से मृत्यु भी नहीं होती है। अब कहिये, कि इच्छासे क्या लाभ है;

और इच्छामें क्या बड़ाई है। यद्यपि सब कुछ इसीके अविद्या काम कर्मका फल है, तथापि, फल तो जब यह चाहे तब नहीं होता, इच्छा बिना कर्मानुसार ईश्वराधीन होता है, इसलिये इसकी कामना व्यर्थ है, इच्छासे किसीकी बड़ाई नहीं होती है, उल्टी बुराई होती है कि अमुक पुरुष बड़ा तृष्णालु है, और इच्छा त्यागसे सबकी बड़ाई हुई है कि अमुक महात्मा सर्वथा इच्छा रहित है, इसलिये जब इसकी इच्छा ही व्यर्थ है और इसके दुःखका हेतु है, तो यह इच्छा त्याग करके ही सुखी क्यों न हो जावे, और मुक्त होवे। तृष्णासे सब दीन हुए हैं, मिथ्या अभिमान ही सब दुःखोंका मूल है, मिथ्या अभिमानसे ही लोग प्रवृत्त हुए हैं, प्रायः बहुतसे नास्तिक हैं, अपनी ही बड़ाई और उद्योग समझते हैं। अज्ञानसे क्षण-क्षणमें उत्पत्ति स्थिति संहार हो रहा है, क्षण-क्षणमें कालके मुखकी दंष्ट्रामें पड़े हुए सर्व जन चूर्ण हो रहे हैं, और उत्पन्न हो रहे हैं एक मोक्ष काल ही ऐसा है, जहाँ मृत्यु आदि कुछ नहीं है, निरहङ्कारता निराभिमानता ही मोक्ष है, वह ही शांति है, ज्ञानसे ही अभिमान छूटता है। केन उपनिषदमें लिखा है कि जब देवताओंकी जय हुई तब उन्होंने मिथ्या अभिमान किया, जब परीक्षा हुई तब तृणको भी हानि न पहुंचा सके, तब उनका मिथ्या अभिमान निवृत्त हुआ, तब उनको ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया, वे ज्ञानी हो गये, अब तक श्रेष्ठ माने जाते हैं, इसलिये चाहे ईश्वरके भी साक्षात् दर्शन क्यों न हो जावें, बिना निरहङ्कारताके मोक्ष नहीं हो सकता। जो लोग अन्तर्यामीमें विश्वास न रख कर मोहित हुए हैं यह उन नास्तिकोंके पापोंका फल है। पाप ज्ञान कालमें

भी प्रतिवन्धक हो जाते हैं, देवना ही सम्बन्धी होकर विघ्न करने लगते हैं। पुण्य ही प्रवल पुरुषार्थ रूप होकर सहायक हो जाते हैं, तब ज्ञान हो जाता है। वेदान्तसे आलस्य अकर्मण्य होता तो व्यास शङ्करादि को भी होता, स्वामी कार्तिक तथा शङ्करका ऐसा संवाद है :—

स्वामी कार्तिकने कहा कि हे भगवन्, रसायन विद्या वतला दीजिये, जिससे मृत्यु न हो, हम कालके ग्रास न होवें, शङ्कर भगवान् ने कहा,—कि चींटी-चींटें, मक्षिका आदिका ग्रास हैं, वे दर्दु रके ग्रास हैं, दर्दु र सर्पके, सर्प नेवलेके, नेवले बिल्लीके, विल्ली कुत्तेके, कुत्ते वघेरे के, वघेरे सिंह के, सिंह शरभके, और शरभ मेघकी गर्जके ग्रास हैं (शर्भ जन्तु विशेष है) मेघ वायुका ग्रास है, इसी प्रकार, मेरे शरीर पर्यन्त सर्व देह मात्र, कालका ग्रास है, तू कैसी रसायन चाहता है, रसायन यह ही है, कि देहमें अभिमान छोड़ कर जानना "मैं असंग शिव हूं" यह ही रसायन है, और मृत्युका मृत्यु है।

राजा परिक्षितको शुकदेवजीने उपदेश किया,—कि हे राजन् "मरिष्ये" इस पशु बुद्धिको छोड़, यह ही निश्चय कर, कि मैं नित्य मुक्त हूं।

"त्वंतु राजन मरिष्येति पशु बुद्धिमिमां जहि। न जातः प्राग भूतोऽद्य देहवत्त्वं न नंक्ष्यसि ॥ अहँ ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहँ परमं पदां एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्या धाय निष्फले ॥ दशंतं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः। न-द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥"

अर्थ यह है :—राजन् "मैं मरूंगा", तू, इस पशु बुद्धिको छोड़, प्रथमसे न हुआ, तू अब उत्पन्न हुआ नहीं है, देहवत् तू नाशको नहीं प्राप्त होगा, "मैं ब्रह्म परम धाम हूं, मैं ब्रह्म परम पद हूं" इस प्रकार आत्माको सम्यक् विचारता हुआ, निश्चल हृदयमें रख कें। पादमें तक्षकके डसे हुए, विषैले मुखसे आस्वादन करते हुए तू शरीरको और विश्वको आत्मासे पृथक् न जानेगा। परमार्थ निश्चयसे बढ़ कर अन्य पुरुषार्थ नहीं है।

बृहदारण्यक् उपनिषदमें याज्ञवल्क्य मुनिसे मृत्युका मृत्यु पूछा तो मुनिने यही उपदेश किया कि सब एक दूसरेके मृत्यु हैं—अग्नि-दाहक है इसलिये मृत्यु है, परन्तु जल अग्निका भी मृत्यु है, मृत्युका भी मृत्यु तो केवल आत्मज्ञान है, जहां मृत्युकी गम्य नहीं उसी आत्म पदमें स्थित होना चाहिये, धर्माधर्म तथा ज्ञान केवल शास्त्र-गम्य है, शास्त्र केवल आस्तिकके वास्ते ही है, कुतर्की अपने अनुभव के भीतर शास्त्रको मानते हैं। नास्तिक आस्तिकमें इतना ही भेद है जितना अन्धे और नेत्रवान् में है, इसलिये शास्त्रमें आस्तिकता रखनी ही परम श्रेष्ठ है। विचार करके देखिये, कि संसारमें वेदान्ती कितने हैं और अन्य जन कितने हैं तथा हानि विशेष किससे पहुंचती है।

(२४) प्रश्न—हे भगवन् यह जगत सब वासना रचित कहा है सो कैसे हो सकता है ? क्योंकि जगत प्रत्यक्ष है, वासना मनमें होती है ? तथा वासनाकी निवृत्ति कैसे होती है और हो भी जावे तो क्या लाभ होता है ? कृपा करके कहिये।

उत्तर—मनमें जो कभी भान होता है मानो हम हरिद्वार हो

आये सो मन कहीं गया नहीं, उसी कालमें वहीं उसका मनोमय हरिद्वार ही भास आया, इससे यह प्रसिद्ध है कि, मांस मय पुरुषसे इतर, मनोमय पुरुष है, जो पुनः पुनः दृढ़ सङ्कल्पसे मांस मय भान हो आता है। सङ्कल्प दृढ़ करते-करते बिना हुए अपने शृङ्ग भी भान हो सकते हैं, यह नियम नहीं कि नेत्रोंसे देखा हुआ ही भासे, संकल्प से दृढ़ हुआ ही भासता है चाहे कभी देखा हुआ न हो, मांसमय पुरुष और पाषाणादि जगत् कोई नहीं है, वैसा-वैसा ज्ञान ही पूर्व-पूर्व वासना वशसे अर्थाकार हुआ जगत् रूप भासता है, कर्म केवल उन वासनाके उद्‌बुद्ध करानेमें निमित्त हैं और पुण्य पापके अनुसार पूर्व-पूर्व संस्कार भास आते हैं। जो संस्कार पूर्वसे विद्यमान ही नहीं होते हैं, जैसे ब्रह्मलोकके संस्कार हैं, उनकी यथोक्त उपासनासे भावना दृढ़ कराई जाती है, और मरण पर्यन्त उस भावनाको स्मरण रखने की विधि है, क्योंकि मरणकालकी दृढ़ वासनाके अनुसार ही जन्म होता है। जैसी-जैसी भावना दृढ़ होती है वैसा-वैसा ब्रह्मलोकादि भान होता है, इसी प्रकार, ब्रह्मके संस्कार दृढ़ करनेसे ब्रह्मरूप ही निश्चय होता है, अन्य वासना निवृत्त हो जाती है। हृदयमें ज्ञानकी सच्ची आवश्यकता न होनेसे ज्ञानमें रुचि नहीं होती है, इसी कारण से ज्ञान नहीं होता है। यह पुरुष, धनादिके नष्ट होनेसे जितना दुःख मानता है परमात्माके चिन्तन बिना समय नष्ट होनेसे उतना दुःख क्यों नहीं मानता है? फिर जब झूठे साथी इन्द्रिय आदि जवाब देते हैं तब पछताना पड़ता है और उपाय कुछ नहीं बनता है, इसलिये निरहङ्कारता पूर्वक अद्वितीय परमात्मा निश्चय करो। यह न हो सके

तो केवल उसकी शरण हो जावो कि मैं तेरा हूं; परन्तु सच्ची शरण होना चाहिये, वह ऐसे समय पर भी अपनेमें मिला लेनेको प्रसन्न है, वह मनुष्योंकी न्याईं अप्रसन्न नहीं होता कि पूर्व हमको क्यों नहीं पूछा था, वह वड़ा दयालु है, जिस कालमें कोई सच्ची शरणको प्राप्त होवे उसी समय अपनेमें स्वीकार करनेको उद्यत है। इस पर एक इतिहास है सो श्रवण करने योग्य है:—देवासुर संग्राममें एक समय षट्वाङ्गराजाकी सहायतासे देवताओंने विजय पाई, क्योंकि ऐसा ही संकेत था। देवताओंने राजाको वरदान दिया, राजाने कुछ अन्य न मांगा केवल अपना जीवन काल पूछा तो दो मुहूर्त्त शेष निकले, राजा की प्रार्थना पर देवताओंने राजाको एक ऋषिके आश्रम पर पहुंचा दिया, राजाने ऋपिसे अपने कल्याणकी प्रार्थना की, उन्होंने उपदेश किया कि यह निश्चय कर "मैं स्वयं कुछ भिन्न वस्तु नहीं हूं जो है सो सब केवल परमात्मा ही है" इस प्रकार सर्वसे निराशता पूर्वक दृढ़ निश्चयसे परत्मा भाव रूप कैवल्य पदको प्राप्त हुए, ऐसा ही दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। वहुतसे भजन शील, धन नष्ट होनेसे, दृढ़ निश्चय न होनेके कारण दुःखी हो गये, एक इतिहास है कि, राजा वलिने देहादि तक वामन भगवानको दान कर दी थी, शुक्राचार्यके वर्जित करने पर, उन्होंने कहा था, कि मुझे आप हीं भगवान को सव भेंट करनी चाहिये थी, आप ही माँगने आये तो उनकी उनको क्यों न सौंप दी जावे, सर्वस्व देकर पड़ रहे ब्रह्मादिकने द्वारपाली की। एक वार वलि राजाको वैराग हुआ कि पुनः पुनः वही क्रिया करना निर्लज्जता है वह काम करना चाहिये जो कभी न किया हो उनके गुरु शुक्राचार्यजी ने उपदेश किया :—

"चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेवच चिंदत्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः ॥ भव्योसि चेत्तदेतस्मा-त्सर्वमाप्नोषि निश्चयात् नो चेद्बहपि संप्रोक्तं त्वयि भस्मनि हूयते ॥"

अर्थ यह है—यहां चिद् है यहां चिन्मात्र है और यह चिन्मय ही है। तू चिद् है मैं चिद् हूं और यह लोक चिद् है यह संग्रह है। यदि तू अधिकारी है तो इसी निश्चयसे सर्वात्म भावको प्राप्त होगा, यदि नहीं, तो बहुत भी तुझे उपदेश किया हुआ भस्ममें आहुति देना है। वासनाकी निवृत्ति वास्ते दृढ़ निश्चयसे तो इतना ही सब कुछ है और अधैर्यसे जो कुछ दृढ़ दुःख भान हो, तब भी, उसकी निवृत्तिके लिये केवल चिन्मात्र दृष्टि उत्तम उपाय है, कोई कालमें अज्ञका चित्त भी एकाग्र हो जाता है, परन्तु प्रयत्न पूर्वक अभ्याससे मनको स्वाधीन करना चाहिये कि जब चाहो तत्काल एकाग्र हो जावे, और विक्षेप भान न होवे, यही परम लाभ है।

(२५) प्रश्न—हे भगवन् ब्रह्म निर्विशेष अद्वीतीय कैसे है और निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान वा ध्यान किस प्रकार हो सकता है सो कृपा करके कहिये :—

उत्तर—श्रवण करो—सर्व प्राणियोंको तत्तद्विशेष विनिर्मुक्त पर-मार्थ वस्तुमें ही, तत्तद्विशेषका अध्यास हो रहा है सो विचार द्वारा जानना चाहिये, देखो कि, जैसे रूपमें जो नील पीतादि वर्ण विशेष भासते हैं, वे नीलादि विशेष रूप सामान्यसे भिन्न नहीं, इसी प्रकार

इसमें खट्टे, कटु मधुरादिक रस विशेष भासते हैं वे रस सामान्यसे भिन्न नहीं है, तथा गन्धमें सुगन्ध दुर्गन्ध आदि गन्ध विशेष भासते हैं, वे भी गन्ध सामान्यसे भिन्न नहीं है, यह रीति छान्दोग्य उपनिषद्में प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके दृष्टान्तसे दिखाई है। आदित्यादि सर्व विकृति विशेषको तेज जल अन्नरूपी कारण प्रकृति स्वरूप कह कर उक्त विकृतिको केवल नाम मात्र कहा है—यथा यह श्रुति है—

"यदादित्यस्य रोहितँ रूपं तेजसस्तद्रूपँ,यच्छुक्लँ तदपां, यत्कृष्णंतदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वँ वाचा रमणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणी त्येव सत्यं—"

अर्थ यह है—जो आदित्यका रक्त वर्ण है सो तेज का है, जो शुक्ल है सो जलका है, जो कृष्ण है सो अन्न रूप पृथ्वीका है, आदित्य से आदित्य पना गया, विकार केवल वाणीसे आरब्ध नाम मात्र है और तेज जल अन्न रूप जो प्रकृति वही सत्य है।

"सदव सौम्येदमग्रासीत्"

अर्थात् सृष्टिसे पूर्व यह संपूर्ण दृश्य सजाती आदि भेद रहित एक सत् ही था—

"तत्तेजोऽसृजत्"

अर्थात् वह सत, तेजको उत्पन्न करता भया (आप ही तेजोभावापन्न होता भया) इस प्रकार श्रुतिने उपदेश किया।

"सन्मूलाः सौम्येमा सर्वाः प्रजाः"

अर्थात् हे सौम्य, इस सर्व प्रजाका मूल सत् ही है—

"एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मातत्त्वमसि"

यह सर्व, इस अपरोक्ष सत् आत्मा वाला है, जो परमार्थ है, सो आत्मा है सो तू है—इत्यादिक रीतिसे श्रुतियोंने "सर्व प्रकृति विकृति रूप जगत् सत् शब्द वाच्य परा प्रकृति स्वरूप ही है", यह उपदेश करके एक अद्वितीय अखण्ड केवल प्रत्यगभिन्न आत्मा साक्षात्कार कराया—अब सो केवल एक अखण्ड आत्मा निर्विशेष मैं ही हूं, यह विचार इस प्रकार करना चाहिये :—

"अहं अहं" यह वृत्ति, केवल निरावरण साक्षिको विषय करती है, सो साक्षिकी परिछिन्नता निवृत्त करने योग्य है,—अहंसे इतर जहां जहां इदं अध्यास है वहां वहां इदं कुछ है नहीं, वास्तवमेंसर्वत्र अपना आप ही है। जैसे सर्वत्र, भेद दृष्टिसे आगे पीछे ऊपर नीचे वाला प्रतीत होता है, अपना आपा दृष्टिसे पर्वत आगे पीछे ऊपर नीचे कुछ नहीं है, इसी प्रकार अपने आपमें त्वं अहं इदं इत्यादि भ्रान्ति है।

आप अपनेसे भिन्न कुछ नहीं हैं—इसी वार्ताको छांदोग्य उपनिषद्में प्रथम सामान्य परोक्ष रीतिसे दिखाया है, यथा यह श्रुति है—

"स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरूस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वम् ॥ इति"

अर्थ यह है—वही भूमा (ब्रह्म) नीचे हैं वह ऊपर है, सो पीछे है सो आगे है सो दक्षिण है सो उत्तर है सो ही यह सब है—

तदनन्तर परोक्षता निवृत्तिके अर्थ और द्रष्टा जीवसे भिन्न कोई

भूमा होगा इस शङ्काको दूर करनेके लिये उसी भूमाका अहं रूपसे उपदेश किया—

"अवहमेवा धस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।"

इसका अर्थ स्पष्ट है—

तदनन्तर अनात्मताकी व्यावृत्तिके अर्थ, कि पंच कोशोंमें से किसी कोशमें अहं वुद्धि न हो जावे, इसलिये, श्रुतिने यह आत्म आदेश किया :—

आत्मैवा धस्तादात्मोपरिष्टादात्मापश्चादात्मापुरस्तादात्मादक्षिणत आत्मोत्तरत, आत्मैवेदं सर्वमिति।

इन श्रुतियों द्वारा ऊपर नीचे इत्यादि कथनका यह तात्पर्य हैं, कि कपर नीचे आगे पीछे अन्य कुछ नहीं है, केवल आत्मा ही अद्वितीय है, इस प्रकार, इदंता विर्निमुक्त अखण्ड आपा निश्चय कराया, तदनन्तर श्रुतिने साक्षात्कार वान् ज्ञानीको स्वराट् कहा, इतरोंको नाश मान फलका भोक्ता और अन्यराजानः (पराधीन) कहा, जो पूछे कि तत्तद्विशेषविमुक्त तथा अवाङ-मनस-गोचर आत्मा, ज्ञानका तथा ध्यानका विषय कैसे हो सकता है, तो इस प्रश्नका इस प्रकार उत्तर है कि, तत्तद्विशेष विनिर्मुक्त आत्मा बोधक।

"अशब्दमस्पर्श"

इत्यादि शब्दोंकी आवृत्तिसे ततृतद् विशेष आविषयाकार हुई, वृत्ति सर्व विशेष विनिर्मुक्त अविषय रूप आत्म-विषयको ही साक्षा-

त्कार करती है, यदि वृत्ति वहाँ तक न पहुंची होती तो अवाङ्मन-सगोचर ज्ञानकी सिद्धि कैसे होती ? इसमें यह दृष्टान्त है, कि जैसे किसी पुरुषको शून्य अन्धेरे घरमें भेजा, तो वह कहता है कि, यहां कुछ भी नहीं है, वह पुरुष वहां गया और विशेषाभावको जान कर उसने कहा,—"मैंने देखा वहां कुछ भी नहीं" इसी प्रकार अपरोक्ष सर्व विशेष विनिर्मुक्त अद्वितीय आत्मा साक्षात्कारके लिये श्रवण द्वारा मनन करके ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञान मननसे ही हो जावेगा, परन्तु जिसको विशेष विपर्यय हो वह इसी प्रकार निदिध्यासन करे।

विक्षेपकी निवृत्तिके वास्ते निदिध्यासन रूप ध्यान है, ज्ञानके वास्ते नहीं है, क्योंकि ज्ञान मननसे ही होता है, इसी कारणसे, निदिध्यासनकी व्यावृत्तिके अर्थ बृहदारण्यक् उपनिषद्में "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् हे मैत्रयि, आत्मा ही साक्षात्कार करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है, निदिध्यासन करने योग्य है, यह कह कर, मैत्रेय्यात्मनो वा :अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या निज्ञानेनेदं सर्वं विदितं अर्थात् हे मैत्रेयि, आत्माके साक्षात्कार और उसके साधन श्रवण मनन और विज्ञानसे यह सब जाना जाता है यह उपदेश किया, जिसको अनुभव नहीं हुआ उसको निदिध्यासन करते-करते कभी प्रमा ज्ञान हो जायेगा। इति

(२६) प्रश्न—हे भगवन् हृदयग्रंथि किसको कहते हैं और उसका भेदन किस प्रकार होता है ?

उत्तर—श्रवण करो :—

प्राणी मात्रमें शुद्ध अहं वृत्ति अन्तर्मुख हुई। आत्मामें विश्रान्त होती है, इसलिये यह अहं वृत्ति प्रत्यक् साक्षीको ही आलम्बन करती है, यह विशुद्ध-सत्व-मायाकी वृत्ति है, प्रमाण जन्य नहीं इसलिये प्रमा भी नहीं क्योंकि अविद्याके वाध करनेमें असमर्थ है और भ्रांति रूप भी नहीं है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान है, परन्तु सामान्य ज्ञान है यह ही शुद्ध अहं वृत्ति गुरु द्वारा उपदिष्ट हुई। वृद्धिको प्राप्त हुई प्रमा रूप होती है। जितने देशमें यह अहं वृत्ति है उतने देशमें ब्रह्म साक्षीरूप से ज्ञात है, शेष अनिदंरूप ब्रह्म अपनो कल्पित अविद्यासे आवृत्त हुआ अज्ञात है उसमें इदं अध्यास होता है, पंच कोशसे लेकर ईश्वर पर्यन्त सब इदं रूप अविद्याकी वृत्ति है, इदं रूप 'जो देह संघात है, उसमें अहं वृत्तिका साक्षी सहित आभास होता है, उसीको चिदाभास कहते हैं। प्रथम अहं वृत्तिमें संघात रूप इदं अध्यास और उस इदं रूप संघातमें पुनः अहं अध्यास होता है यह द्विगुण अध्यास होनेसे देहोऽहं मनुष्योऽहं यह संकीर्ण अध्यास व्यवहार होता है इसी देह संघातको मिथ्यात्मा कहते हैं। इसमें द्विगुण प्रकाश होता है, एक साक्षी आत्माका और दूसरा चिदाभासका प्रकाश है, इदं रूप संघात और प्रत्यक् साक्षीका परस्पर सम्मिलित अन्योन्य अध्यास ही आस्मिता रूप हृदय ग्रंथि है तथा अनिदं रूप ब्रह्ममें नाम रूपात्मक यह समष्टि इदं अध्यास अविद्या ग्रंथि कही है, इसी अविद्या ग्रन्थिके अन्तः पाती हृदय ग्रन्थि है। जैसे अन्य देहोंमें इदं बुद्धि होती है, तैसे ही इस स्वदेहमें भी अहन्ता रहित इदं बुद्धि हो जावे, अथवा सर्वत्र सब

देहोंमें अहं बुद्धि हो जावे तव शुद्ध अन्तः करणमें दृढ़ अभ्याससे हृदय-ग्रंथिका भेदन होता है। जो आत्मा विषयणी-वृत्ति वाला अन्तः करण है, वह ही सत्व मात्र अन्तः करण कहलाने योग्य है अन्य सब अन्तः करण आभास मात्र हैं।

सर्वात्म-भावसे हृदयग्रंथि टूट जाती है। सर्वात्म-भाव

"अहमैवाधस्तात्" "अहमेवेदं सर्व"

इत्यादि श्रुति द्वारा भूमा उपदेशमें निरूपण किया है अथवा एक जीव वादकी रीतिसे विचार करनेसे यह ग्रंथि भेद होता है, सो विचार सम्पादन करना चाहिये—

(२७) प्रश्न—हे भगवन् एक जीव वादकी रीतिसे किस प्रकार बोध होता है सो कृपा करके निरूपण कीजिये—

उत्तर—हम संक्षेपसे एक जीव-वादका वर्णन करते हैं श्रवण करो—दृष्टा केवल एक ही है नाना नहीं, वही दृष्टा सृष्टा है, अज्ञानसे वद्ध भी वह एक ही पुरुप है उसी की 'कल्पनामें अन्य सारा दृश्य है, उसके दृश्यमें ही अज्ञान और अज्ञानाभास, ज्ञान और ज्ञानाभास मुक्त और मुक्ताभास तथा वन्धादिकी कल्पना है, वह एक ही दृष्टा अपनी कल्पनासे अन्य नाना दृष्टा देखता है सो सब उसीके दृश्य हैं। वह आप ही तत्तद् रूप हुआ। आप अपनेको स्वप्नवत् नाना रूप देखता है। वह एक मुख्य दृष्टा ही अपने आपमें वन्ध मोक्ष गुरु तथा शास्त्र विचार आदिकी कल्पना करता है, अपने कल्पित उपायसे ही कल्पित वन्धकी नवृत्ति हो जाती है, यह दृष्टा अपनी कल्पनासे अनन्त कालकी भी एक क्षण मात्रमें कल्पना कर लेता है, इसलिये

संसारकी आयुष क्षणसे अधिक नहीं है और इसी हेतुसे उसे क्षण-भंगुर कहा है।

यदि संसार तीन क्षण भी रह जावे तो भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालमें स्थित रहनेसे त्रिकालावाध्य; अर्थात् सत्य होगा और उसका अभाव न हो सकने से अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा, इसलिये क्षण मात्र कल्पित संसार है, दूसरे क्षणमें वह नहीं रहता, उसके सदृश अन्य सजातीय संस्कार वैसे ही भासते हैं।

वह दृष्टा एक जीव अन्तर बाहरकी सन्धिमें अणु मात्रसे लेकर देह जगत् पर्यन्त सबकी कल्पना करता है, सो विचार कियेसे सन्धि का कुछ पता नहीं चलता, कल्पना मात्र ही है, क्योंकि दूसरा तो कोई हैं ही नहीं जिसकी अपेक्षासे अन्तर बाहर व्यवहार हो, स्वप्न रूप कल्पनामें ही कल्पित गुरु, उपदेशसे "सर्वोस्मि" मानता है, यही इसकी यथार्थ निश्चय रूप मुक्ति है।

ज्ञानसे पूर्व उसी एक दृष्टा मुख्य जीवको अपने कल्पना किये हुए अन्य जीवाभासोंमें बन्धकी कल्पना होती है, भ्रमसे उनको भी अपनी न्याई मुख्य जीव मानता है और उनको वद्ध मानता हुआ अपने मोक्षमें संशय करता है, कि यह भी तो अपने-अपनेको मेरी न्याई दृष्टा ही मानते हैं, जब पूर्व जनोंको मोक्ष न हुआ तो हमारा कैसे होगा, यह सब अविद्याकी महिमासे अपनेमें मानता है, ज्ञान हुए पीछे निश्चय करता है कि मुझसे भिन्न न कुछ था न हुआ न होगा।

अनात्मा खपुष्पवत् है, उससे भिन्न सर्वात्मा ही है। वाधितकी

अनुवृत्तिसे जो भासता रहे, खाना पीना, चलना, मरना, जीना, रोना, पीटना सर्व आत्मा ही है, अज्ञानी भी सर्वात्मा ही है, और सर्व आत्मा ही देखता है, परन्तु मानता नहीं उलटा मानता है। यही इसका अज्ञान विपर्यय है, सो उसके ज्ञानसे ही निवृत्ति हो जावेगा। वेदान्तमें जितने वाद हैं, सबका निर्विशेष अद्वितीय सर्वात्म भाव लखानेमें तत्पर्य हैं।

(२८) प्रश्न—हे भगवन् वेदान्तमें नाना वाद किस प्रकार एक सर्वात्माको ही लखाते हैं सो कृपा करके संक्षेपसे कथन कीजिये।

उत्तर—प्रत्यंगात्मा साक्षी सर्वके मतमें अवच्छिन्न स्वीकार होने से सर्व प्रक्रिया अवच्छेद वादके अनुसार है, सर्व प्रक्रिया वादोंका अद्वितीय ब्रह्म लखानेमें तात्पर्य इस प्रकार है सो संक्षेपसे सुनो :—

१—आभास वादकी रीतिसे साक्षीमें कर्तृत्व अध्यास, बुद्धिके संसर्गसे कल्पित भासता है; जैसे पुष्पकी लाली; संसर्गसे स्फटिकमें मिथ्या भान होती है वह लाली पुष्पमें है स्फटिकमें नहीं है; स्फटिक असङ्ग है; तैसे ही कर्तृत्व आदि धर्म; बुद्धिके संसर्गसे आत्मामें मिथ्या भान होता है; बुद्धि सहित चिदाभासमें कर्तृत्वादि धर्म सही; आत्मा असङ्ग है शुद्ध है और एक है नाना नहीं; जैसे उपाधियोंमें आभास नाना रहो; परन्तु उपाधियोंके अभाव हुए जिसका आभास है वह सूर्यादि वस्तु एक ही है; इसी प्रकार नेति-नेति श्रुति द्वारा नाना बुद्धि ,उपाधियोंका अभाव निश्चय हुए, एक ही सर्वात्मा अद्वितीय है।

२—प्रतिबिंबवाद की रीतिसे नाना अन्तःकरणमें आत्माके

प्रतिबिम्ब रूप नाना जीव हैं, उपाधियोंके निवृत्त हुए बिम्ब रूप आत्मा एक ही अद्वितीय असङ्ग है, प्रतिबिम्बका बिम्बसे वास्तवमें कुछ भेद नहीं है, यथा यह शास्त्र प्रमाण है।

'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्'

अर्थात् आत्मा एक है और बहुधा भी (नाना जीवरूपसे) भान होता है, जैसे जलोंमें चन्द्र प्रतिबिम्बित् हुआ बहु रूप भासता है, वास्तवमें चन्द्र एक ही है तद्वत् आत्मा है।

३—कहीं श्रुतिमें प्रवेश दिखाया है कि आत्मा आप ही देह कल्पना करके तदभिमान रूपसे प्रवेश करता है जैसे घरमें गृहस्थ प्रवेश करता है तद्वत्। यथा श्रुति प्रमाण हैं,

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'

अर्थात्, वह परमात्मा, देह उत्पन्न करके, उस देहके प्रति, पीछे (जीव अभिमान धारण रूप) प्रवेश करता भया, सो देह प्रवेश मिथ्या कल्पित है, अनुगत आत्मा असंग एक है—

४—कहीं श्रुतिमें आवेश दिखाया है जैसे किसीको देवताका आवेश होता है, इसी प्रकार आत्मारूप ईश्वरका देहोंमें जीव रूपसे आवेश है यथा यह श्रुति प्रमाण है।

'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति'

अर्थ यह है—ईश्वर प्रथम दो पादवाले चार पादवाले शरीरोंको रचता भया, तब अपने प्रवेशसे पूर्व ही लिंग शरीररूप पक्षी होकर पीछे पुरुष रूपसे, देहोंमें उसका आवेश भया—

इससे आगे श्रुति कहती है—

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

अर्थात् परमात्मा मायासे बहुरूप होता है, मायाका बाध करके सर्व देहोंका बाध हुए २ आवेश रहित एक ही असंग आत्मा है।

५—कहीं आत्माको, सांचेमें गले हुए सांचेके आकार हुए २ ताम्रकी न्याई उपाधियोंके आकार दिखाया है, यथा यह श्रुति प्रमाण है—

"अग्निर्यथैकोभुवन प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव, एकस्तथा सर्व भूतांतरात्मा रूपँ रूपं प्रति रूपो बहिश्च"

अर्थात् जैसे एक ही अग्नि ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुई व्यक्ति व्यक्तिके प्रतिरूप होती है-तैसे एक ही सर्व भूतोंका अन्तरात्मा, व्यक्ति व्यक्ति के प्रति रूप है, और असंग भी है—

६—आत्माकी बुद्धिके साथ समानतासे अर्थात् तादात्म्याध्यास से जीव रूपता बृहदारण्यक्में दिखाई है—

"स समानः सन् ध्यायतीव ललायतीव"

अर्थात्—वह आत्मा बुद्धिके साथ समा हुआ २ (तादात्म्यभाव कोप्राप्त हुआ, बुद्धिके ध्यान और क्रिया आदिकके साथ) मानों ध्यान करता है मानों चलता है—

७—कहीं अवच्छेद वाद है, बुद्धि उपाधि अवच्छिन्न हुआ आत्मा जीव कहाता है, भिन्न भिन्न घटाकाशकी न्याई परन्तु वास्तवमें एक महाकाशवत् आत्मा अद्वितीय अखण्ड है—

८—कारण उपाधिवाला ईश्वर है और वही कार्यउपाधिवान हुआ जीव है, आत्मा अद्वितीय अखण्ड, कारण कार्यसे विनिर्मुक्त एक है, यह कार्य कारणवाद है। और इसी प्रकार अन्यत्र वेदान्तके भिन्न भिन्न प्रक्रियावादमें भी जान लेना, कि सबका तात्पर्य, केवल अद्वितीय अखण्ड एक आत्मा ब्रह्मके लखानेमें है।

यह सब वाद भिन्न-भिन्न हुए भी ब्रह्मसे अभिन्न एक जीव भाव को जनाते हैं। जो अनिर्दंरूप साक्षी सहित मुख्य "सामान्य" अहं वृत्तिमें, संघातरूपी सामान्य इदं अध्यास है, तदनन्तर देहोऽहं विशेष अध्यास होता है सो तिस (विशेष) अमुख्य, वृत्तिमें मुख्य अहं वृत्ति सहित चैतन्यका स्फुरण रूप अभास चिदाभास कहलाता है, जो देह संघातका अभिमानी है, और इसीको भिन्न-भिन्न मतमें अभास प्रवेश प्रतिरूप इत्यादि नामोंसे कहा है।

(२६) प्रश्न—हे भगवन् योग वासिष्ठ ग्रन्थमें भिन्न-भिन्न स्थानोंमें, जिन संवेदन कचन कलत आदि शब्दोंका व्यवहार किया है सो इनका क्या तात्पर्य है।

उत्तर—योग वासिष्ठ ग्रन्थमें जो कलना कल्पना स्फुरण कचन संवेदन इत्यादिक शब्द हैं उनका एक ही अर्थ है, वे पर्याय शब्द हैं, यह दृष्टिसृष्टि वाद की रीतिसे एक अद्वैत आत्मा की सत्ताको ही जनाते हैं, अर्थात्, जो आत्मसंवित्में जगतका स्फुरण है, सो आत्म सत्तासे भिन्न नहीं, एक ही अद्वैत सत्ता है, नाना नहीं।

अब दृष्टि सृष्टि वादका निरूपण करते हैं, दृष्टिसृष्टि वाक्यका यदा दृष्टि तदा सृष्टि, ऐसा समास करें, तो यह अर्थ नहीं बनता कि जब

दृष्टि है तब सृष्टि है। जो ऐसे अर्थ माने उससे पूछा चाहिये, कि, क्या सृष्टि, दृष्टि सापेक्ष है, वा दृष्टिनिर्पेक्ष है अर्थात् क्या सृष्टिको दृष्टिकी अपेक्षा नहीं है।

जो सृष्टिको दृष्टि निर्पेक्ष मानें तो एक कालमें उगे हुए दो सींगौ की न्याई सृष्टिको दृष्टिकी अपेक्षा नहीं है, सृष्टि स्वतन्त्र हैं, इससे भेद वाद सिद्ध हुआ, जो सृष्टिको दृष्टिकी अपेक्षावाली मानें तो क्या दृष्टिसे सृष्टिके स्वरूपका लाभ होता है या केवल सृष्टिका प्रकाश होता हैं ? जो प्रकाश मानें तो दृष्टिसे पूर्व ही सृष्टि सिद्ध हुई इसलिये भेदवाद हुआ, सो अयुक्त है।

इसीलिये स्वरूप लाभ ही उत्तम पक्ष है, यातें 'दृष्टि रेव सृष्टि' यह समास करना, यह ही उत्तम पक्ष है अर्थात् दृष्टि सत्तैव सृष्टि सत्ता, अर्थ यह है कि, सृष्टिकी सत्ता, दृष्टिकी सत्ता ही है दृष्टिका अर्थ चिदि ज्ञप्ति आत्म स्वरूप है, सत्ता एक ही अद्वितीयअखण्ड चिद है नानात्व कूछ नहीं है—यह सारे योग वाशिष्ठका तात्पर्य हैं।

(३०) प्रश्न—हे भगवन् आत्माका अनात्माके साथ क्या सम्बन्ध है कृपा करके कहिये।

उत्तर—सर्वत्र सजातियोंकाही सम्बन्ध होता है जैसे श्रोत्र इन्द्रिय शब्दको ही सुनती है रूपको नहीं देखती इससे श्रोत्र और शब्दका परस्पर सजातीय सम्बन्ध है, इसी प्रकार आत्माका सर्वके साथ स्वरूपसे अभेद ही बनता है। ऐसा न माने तो सर्वको भिन्न होनेसे सर्वकी सिद्धि आत्मासे नहीं होगी, जैसे श्रोत्रसे विजातीय रूपकी सिद्धि नहीं होती तद्वत् आत्मासे सर्व अनात्मा सिद्ध न हो सकेगा।

जहाँ सिद्ध साधक भाव अथवा प्रकाश्य-प्रकाशक भाव है वहीं व्याप्य-व्यापक भाव अवश्य होता है, सो व्याप्य मिथ्या है व्यापक सत्य है, जैसे रूप तथा सूर्य का प्रकाश्य-प्रकाशक भाव सम्बन्ध है, सूर्य आलोक द्वारा सर्व रूपोंमें व्याप्त हुआ रूपोंको प्रकाशता है और सूर्य आलोक तथा रूप, सजातीय हैं और सामान्य तेजसे भिन्न नहीं है, इसलिये तेजमात्र सत्य हैं, अन्य भेदकी कल्पना मिथ्या है, प्रकाश्य प्रकाशक भाव विनिर्मुक्त तेज मात्र ही सत्य है, तद्वत, आत्मा प्रकाशक और नाम रूप प्रकाश्य है, तिनहोंका अभेद ही संबंध है।

विचार करके देखिये तो अस्ति भांति प्रिय रूप आत्मासे भिन्न नाम रूप प्रतीत नहीं होते, इस लिये मिथ्या है, और आत्मा सत्य है तथा प्रकाश्यय-प्रकाशक-भावविनिर्मुक्त है।

एक ही अद्वितीय आत्मा, अन्तःकरणका जो आकाश तत्ववाला अंस है उस उपाधी वाला हुआ, श्रोत इन्द्रिय द्वारा शब्द विषयको ग्रहण करता है, वही आत्मा मन आदि के वायव अंशकी उपाधि वाला हुआ त्वचा इन्द्रिय द्वारा स्पर्श विषयको ग्रहण करता है, तद्वत् वही आत्मा, तेज जल और पृथ्वी रूप उपाधियों में भी जान लेना चाहिये।

एक ही अन्तःकरणमें पांचों भूतोंके मिलित सत्व अंश मिलाए हुए अन्नकणोंकी न्याई कहे जाते हैं यदि मिलित ही हों, तो एक कालमें ही पांचों विषयोंका ग्रहण होना चाहिये, सो तो होता नहीं, इसलिये यह अनात्मा सब भिन्न भिन्न है, और सबमें अनुगत ज्ञाता आत्मा एक है, इसलिये विषय आदिके साथ आत्माका सजातीय

अर्थात् स्वरूप सम्बन्ध है— इस ही अभेद सम्बन्धसे सबका भान होता है ।

सर्व व्यवहारका साधक आत्मा ही होता है इन्द्रिय मन आदिक नहीं होते क्योंकि यह अनात्मा है, मन भी अपने आकाश वायव-आदि अंश द्वारा, उस उस विषयको मनन करता है, सर्व विषयोंको नहीं, और इसो प्रकार पृथक् इन्द्रियां ही पृथक पृथक विषयोंको भो ग्रहण करती हैं, अपने-अपनेसे भिन्न विषयोंको इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं, इसलिये मन आदिक सब अनात्मा हैं, परन्तु मन इन्द्रिय आदि सब मिथ्या व्यवहारोंका अविषय और उन सबका जो एक-मात्र साधक है 'सत्ता स्फूर्ति प्रदाता है' सोई एक आत्मा है ।

आत्मा ही स्वरूप सम्बन्धसे सर्व मिथ्या व्यवहारोंको अनुभव करता है और उनका साधक है; जैसे नट; अपने मिथ्या स्वरूपोंका अनुभव करता हैं और उनका साधक है और पृथक है तैसे आत्माको जानना ।

तात्पर्य यह हैं कि असति भांति प्रियरूप आत्मा तथा अनात्मामें जो अस्ति भांति प्रियरूप अंश सो सजातीय है; अर्थात् स्वरूपसे अभिन्न है; शेष नाम रूपात्मक भिन्न-भिन्न उपाधियां अज्ञानका कार्य हैं; कथन मात्र हैं मिथ्या हैं सत्से भिन्न असद् रूपहै और अज्ञान भी निरावरण साक्षिमें कभी हुआ ही नहीं था; इसलिये एक अद्वितीय अखण्ड आत्मा ही है।

विवेकसे पुनः पुनः विचार करना चाहिये कि सामान्यसे पदार्थ दो ही भान होते हैं द्रष्टा और दृश्य दृष्टा तो दृश्य नहीं हो

सकता; परन्तु द्रष्टा अपनी समान सत्ता स्फूर्ति सहित दृश्यको ग्रहण कर सकता है; जैसे चक्षु रूप आलोकको ग्रहण करता है; तद्वत् सो सत्ता एक ही है; इतर भेद अध्यास अज्ञान कल्पित है; ज्ञान दृष्टिसे कुछ नहीं है।

(३१) प्रश्न—हे भगवन्, यह अज्ञान अनादि है अथवा सादि है कृपा करके कथन कीजिये।

उत्तर—ब्रह्मकी कोई शक्ति रूप यह अज्ञान अनादि है, यदि सादि होवे तो उसका कोई कारण मानना चाहिये और बिना इसके कारण की निवृत्ति हुए, यह आप निवृत्त न होगा सो अज्ञानका कोई कारण कहीं प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये अज्ञान अनादि है, यदि कारण कोई अन्य अज्ञान मानिये तो अनवस्था आदि दोष भी होंगे, इस-लिये अज्ञानको अनादि ही मानना युक्त है।

अनादि प्रागभाव और भविष्यत्व धर्मकी नाईं उस अनादि अज्ञान की ही ज्ञानसे निवृत्ति होती है, और सो भी अत्यन्त ही निवृत्ति होती है, यदि लेशाविद्या ज्ञानसे पीछे अङ्गीकार करें, तो ज्ञान का फल ही क्या हुआ जब सम्यक् ज्ञान न हुआ और अज्ञान लेश रह गया, इसलिये ज्ञानसे अज्ञानकी अत्यन्त निवृत्ति रूप बोध होता है ध्वंस नहीं होता, क्योंकि ध्वंस में तो घटके ध्वंसकी नाईं परमाणु शेष रहते हैं, सो अत्यन्त निवृत्ति नहीं कही जा सकती है, इसलिये मिथ्यात्व निश्चय रूप बोध ही होता है, यही अज्ञानकी अत्यन्त निवृत्ति है, इसमें यह रहस्य है सो श्रवण करना चाहिये :—

ब्रह्माकार वृत्ति रूप ज्ञानका फल ब्रह्म को साक्षि भावापत्ति है, सो

साक्षि स्वरूप से निरावरण है उसमें अज्ञानका लेश भी नहीं, ब्रह्ममें पूर्व अज्ञानीकी दृष्टिसे अज्ञान था भी और बोधसे अनन्तर रहा भी नहीं और साक्षिको आप निरावरण होनेसे उससे अज्ञान निवृत्त भी नहीं हुआ।

तात्पर्य यह है कि मिथ्या अज्ञानकी प्रतीतिका बोध से मिथ्यात्व निश्चय रूप बोध होता है, पूर्व भी अत्यन्त निवृत्ति ही थी परन्तु अध्यासके वेगसे ऐसा भान नहीं होता था, अब बोधसे भी अत्यन्त निवृत्तिकी ही निवृत्ति निश्चय हुई, क्योंकि कल्पितकी निवृत्ति अधिष्ठान रूप होती है, और यदि बाधित की अनुवृत्ति मानिये तो सो भी अधिष्ठान रूप ही है क्योंकि मिथ्यात्व निश्चय पूर्वक ही अनुवृत्ति ही है, अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है, आत्माका ही चमत्कार है इसी वास्ते कहा है—'पश्यन्नपिन पश्यति' अर्थात् विद्वान ब्रह्म रूपसे दर्शन करता हुआ भी जगत् रूपसे नहीं देखता है, ज्ञानसे पूर्व भी सर्व ब्रह्म ही है, ज्ञानका फल केवल अब्रह्म निश्चयका बोध है, ब्रह्माकार वृत्तिका ही नाम ज्ञान है उससे केवल अज्ञानकी निवृत्ति होती है और ब्रह्म ज्यों-का-त्यों है, व्यवहारमें भी ब्रह्म जैसेका तैसा है।

व्यवहारका परिवर्तन या उपमर्दन वैसी ही विरोधी सामग्रीसे होगा, प्रवृत्ति सब भावना (वासना) के वश है, विरोधी भावनासे वासना का अभाव करो ब्रह्म सर्व विशेषोंसे विनिर्मुक्त है। सम्पूर्ण अध्यास 'नेति-नेति' इत्यादि श्रुति विचारसे निवृत्त होता है।

(३२) प्रश्न—हे भगवन्, जहां रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है वहां यह रीति है कि यद्यपि रज्जुमें सर्प मिथ्या प्रतीत होता है

तथापि कहीं बांबी आदि देशमें तो सर्प अवश्य विद्यमान हैं सो सत्य है, इसी प्रकार यदि यह जगत् ब्रह्ममें मिथ्या है तथापि अन्यत्र कहीं सत्य जगत् अवश्य होगा सो कैसे मिटेगा ?

उत्तर—अध्यास दो प्रकारका होता है। १—प्रसिद्ध अध्यास २—अप्रसिद्ध अध्यास। (१) जहां रज्जुमें सर्पका भ्रम है वहां प्रसिद्ध अध्यास है, ऐसी स्थितिमें कोई सर्प कहीं बांबी आदिमें भी रहता है, परन्तु (२) ब्रह्ममें तो जगत्का अप्रसिद्ध अध्यास है, ब्रह्मसे इतर कोई स्थान नहीं जहां जगत् रहे, क्योंकि ब्रह्म त्रिविध परिछेदसे रहित है, इसलिये ब्रह्मसे भिन्न जगत् कहीं नहीं है जैसे तन्तुसे अन्यत्र कहीं पट नहीं रह सकता जलसे अन्यत्र तरङ्ग नहीं रह सकती, मृत्तिकासे इतर घट नहीं रह सकता तद्वत् आत्मासे भिन्न जगत् नहीं रह सकता है, इन सव तन्तु जलादिकोंका अपने-अपने कारणमें अप्रसिद्ध अध्यास है।

जिस प्रकार स्वप्नमें जाग्रतका अप्रसिद्ध अध्यास है, इसी प्रकार अपने अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्ममें जगत्का अप्रसिद्ध अध्यास है, सो अविद्या द्वारा हो जाता है। यह बोध भी अत्यन्ताभाव ही है, ख पुरुषकी असत्यता पूर्वसे ज्ञात होनेसे वह बुद्धासत्व है—रज्जु में सर्प बोधसे पूर्व बोध्यासत्व था, पीछे अत्यन्त असत्यता निश्चय होनेसे वह बोध्यासत्व कहा गया है —

(३३) प्रश्न—हे भगवन्, प्रमाण क्या है और प्रमाणोंकी सफलता कहां होती है ?

उत्तर—जिस-जिस पदार्थ में जैसा-जैसा रूप होने की

योग्यता होती है तिस-तिस में ही प्रमाण प्रवृत्त होते हैं और तिस-तिस में ही प्रमाणोंकी सफलता होती है और जिस जिस पदार्थमें जैसा-जैसा रूप होनेकी योग्यता नहीं होती है प्रथम तो उसमें प्रमाण प्रवृत्त ही नहीं होगा और यदि प्रवृत्त होगा तो आप ही अप्रमाण हो जावेगा और सफल न होगा।

अब सोचना चाहिये कि "तत्वमसि" आदि वेदान्त वाक्य जीव ब्रह्म की एकताको बोधन करते हैं और सोई वेदान्त वाक्य प्रमाण हैं तथा एकत्वको ही विषय करते हैं अन्यथा वह वाक्य उस एकता बोधनमें प्रवृत्त न होते और न उनकी सफलता होती, इसी कारणसे जीवको ब्रह्मत्व की योग्यता है, क्योंकि जीव तो भ्रम मात्र है।

अन्यत्र जहाँ कहीं जीव ईश्वर जगत भेदको कथन करनेवाले वाक्य हैं सो लौकिक अनुवाद मात्र हैं और आरोपवादका कथन करते हैं और प्रमाण नहीं हैं क्योंकि उनका "नेति नेति" आदि वाक्योंसे बोध हो जाता है, और महावाक्योंके विचार द्वारा केवल अखण्ड अद्वितीय ब्रह्माकार वृत्ति रूप साक्षात्कार होता है।

वाक्य रटनेका नाम ब्रह्माकार बृत्ति नहीं है किन्तु निरूढ़ ब्रह्माभिमान ही ब्रह्माकार वृत्ति है।

स्वप्न, जाग्रत, मनोराज्य तथा अन्यत्र सर्व भ्रमस्थलमें (१) अप्रमातामें प्रमाताका अध्यास है (२) अप्रमाणमें प्रमाण अध्यास है (३) अप्रमेय में प्रमेयका अध्यास है और (४) अप्रमामें प्रमा का अध्यास है, जाग्रत भी स्वप्न सदृश है, इस कारणसे, जाग्रतका रागद्वेषादिक सर्व आविद्यक अध्यास है। वास्तवमें एक ब्रह्माकार मन

ही प्रमाता उत्पन्न होता है, वेदान्त से जन्य ब्रह्माकार वृत्तिप्रमाण है, ब्रह्म प्रमेय है, और ब्रह्मज्ञान प्रमा है।

(३४) प्र०—हे भगवन् सोऽहं प्रणवका अभ्यास कैसे होता है और उसका फल क्या है ?

उ०—पूरक समय, जो अन्तर श्वास आता है उसको अपान कहते हैं, रेचक समय जो वाह्य श्वास जाता है, उसको प्राण कहते हैं, जब श्वास, अन्तर वा वाहर अति सूक्ष्म होकर स्थित होता है, तब वह, संधि रूप कुम्भक है, रेचक पूरक तथा अन्तर वाहर कुम्भक की अपेक्षा रहित, जहां का तहां श्वासका रुक जाना, केवल कुम्भक कहलाता है।

"सोऽहं हंसो" इस प्रकार का जप ज्ञाततः वा अज्ञाततः प्राणि मात्रके हृदयमें स्वाभाविक ही होता रहता है, और जीवको हंस कहते हैं, इसलिये इसको हंस मन्त्र कहते हैं। सकारसे तत् पद समझो, और हकारको त्वं पदका वाचक जानों, सकार की रेचक श्वासके साथ भावना करो और हकार की पूरक श्वासके साथ भावना करो।

"सो" पदको लिये हुए रेचक के साथ यह भावना करो कि तत् पदकी उपाधि जो मायातत्कार्य अनात्मा, उसको हम अन्तरसे वाहर निकालते हैं, अर्थात् बाधक करके अभाव निश्चय करते हैं। उस ही तत् पदके लक्ष्य-रूप परमात्माको, अपान द्वारा श्वास अन्तर लेते हुए अहं रूपसे भावना करो मानों जीव रूपसे प्रवेश है।

वाह्य वाधित हुआ हुआ अनात्मा पुनः नहीं आता है पीछे नया नया आरोप ही होता है, इसलिये वह ही आत्मा 'अहं' रूपसे अपान

के साथ नाभी द्वारा गुदा तक स्थित होता है और प्राण रूपसे उठकर "सो" इस भावनाके साथ तत् पद उपलक्षित अनात्मा होकर, वाह्य उसका अनात्मा भाव बाधित हो जाता है, फिर वह नहीं आता।

इस प्रकार "सोहं" "हंसो" अर्थात् "तत्त्वं" "त्वं तत्" इस अर्थ वाली भावनाका तार, एक रस स्वाभाविक चलता रहता है, अर्थ से, उपाधि रहित, एक ही अखण्ड अद्वितीय आत्म तत्व निश्चय होता है इससे अन्य कल्पना अनात्मा है, उसका बोध हुआ हुआ है, इसलिये वह है ही नहीं, "सो अखण्ड परमात्मा ब्रह्म भिन्न साक्षी मैं हूं" अन्य कुछ है ही नहीं, यह ही निश्चय करके स्थित होना चाहिये।

अभ्यासके समय प्राण अपानकी गति अत्यन्त सूक्ष्म होनी चाहिये सो श्रुति कहती है—

क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत।

अर्थात्—प्राणोंको अत्यन्त सूक्ष्म करके नासिका द्वारा श्वास लेवे–तथा यह भी श्रुति है:—

"सकारेण बहिर्याति हकारणे विशेत् पुनः। हँस हँसेति मन्त्रोऽयँ जीवी जपति सर्वदा।"

अर्थ यह है कि:—सकार से श्वास बाहर जाता है और हंकार से पुनः भीतर प्रवेश करता है, जीव हंस हंस यह मन्त्र सदा जपता है।

सोऽहं में से, सकार हकार अलग करनेसे "ओ३म्" प्रणव रहता है और अर्थ भी एक ही है इसलिये "सोहं" प्रणव कहलाता है—

इसके अभ्याससे तत्व ज्ञान मनोनाश तथा वासना क्षय, समकाल प्राप्त होकर शीघ्र कृतकृत्य होता है अथवा अवीची विषयक ब्रह्म भावनासे अभ्यास करना चाहिये ।

(३५) प्रश्नः—हे भगवन् अवीची की भावनासे ब्रह्माभ्यास किस प्रकार होता है ।

उत्तरः—ध्रुवके नीचे पृथ्वी का मध्य सुमेरु है, ध्रुव सर्वोत्तर है और सर्व ओर से ऊर्ध्व है, सुमेरुके शिखरपर चढ़कर सर्व ओर दक्षिण ही दक्षिण दृष्टि आता है अन्य दिशा कोई भी नहीं भासती है तद्वत् सर्वोत्तर ऊर्ध्वसे ऊर्ध्व ब्रह्म ही है ।

"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" इस श्रुतिप्रमाणसे ब्रह्म अनन्त है उसके बीचों बीच नीचे दसवें अंशमें अज्ञान कल्पित है, इसी प्रकार अज्ञान के मध्य नीचे उसके दसवें अंशमें पाँचों भूतों की उत्तरोत्तर क्रमशः दशम् अन्शमें कल्पना है और उसके पीछे दशम अन्शमें नीचेके लोकोंकी कल्पना है उसके पीछे इसी प्रकार नरकोंकी कल्पना जान लेनी ।

अवीची अन्तका नरक है जहां प्राणोंका भी दुःख है उसीमें अवीची नामवाला निरवयव परमाणु स्वरूप जीव है, इसका मूलाधार स्थान है, सबसे नीचे है, उससे नीचे फिर ऊर्ध्व ही ऊर्ध्व अनन्त है, तात्पर्य यह हैं कि कल्पित बीचमें ही भासता है वास्तवमें आदि अन्त सब अव्यक्त ही है, "अव्यक्ता दीनि भूतानि" इत्यादि गीता वचन प्रमाण है ।

अवीचीमें अपनी स्थिति मानकर सीधा मध्यमें ऊपर, अन्तर

दृष्टि, से, ऊंचेसे ऊंचा अपना आपा अनन्त चिंतन करो, वह ही तुम्हारा ब्रह्म स्वरूप है, प्राण अपान की गति रुक जावेगी, विदेह कैवल्य, निर्विकल्प समाधि असंप्रज्ञात रूप विष्णुका परम पद, स्वरूप साक्षात्कार सब यह ही है, प्रणवको अबीचीसे उठाकर नाद घोषको ऊर्ध्व से ऊर्ध्वमें लीन करदो।

(३६) प्रश्नः—हे भगवन् वेद और महात्मा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कहते हैं सो सत्य है परन्तु मेरे अनुभवमें नहीं आता, कृपया उपदेश कीजिये जिससे मुझे ब्रह्म साक्षात्कार हो, मुझे तो जगत ही दृष्ट आता है।

उत्तरः—इस विषयमें हम एक दृष्टांत कहते हैं सो सुनोः-जैसे अपने नानाके घरमें पला हुआ कोई बालक अपने नाना नानी आदिक की देखा देखी, अपनी माताको नाम लेकर पुकारता है, परन्तु बड़ा होनेपर अपने पिताके घर सिखाया जाता है कि तुम अपनी माताकों माता कह कर पुकारो, नाम लेकर न पुकारो यह अनुचित है, वह पूछता है क्यों ? तो कहा जाता है कि तू उससे उत्पन्न हुआ है इस कारणसे वह तेरी माता है, बालक जान लेता है, कि मेरी माता है, और फिर उसका नाम नहीं लेता, प्रथमका अभ्यास छूट जाता है, जो उसका अन्यथा संगसे अन्यथा स्वभाव पड़ गया था, वह निवृत्त हो जाता है और फिर सत्यको सत्य मानता है।

इसी प्रकार अब दार्ष्टान्तिक सुनोः—इस जीवको, अपनी अनादि कल्पित अविद्याके संग दोष से, विपर्यय बुद्धि हो गई है, और उस जीव बुद्धिसे, यह ब्रह्मको ही जगत नामसे पुकारता है, और अज्ञानी

सम्बन्धियोंका सिखाया हुआ ही, भेद दृष्टि पूर्वक, ईश्वर, जीव, जगत सम्बन्ध, नाम जन्म, मरण, सुख, दुःख, बन्ध मोक्षादि अनेक प्रलाप करता है, और अपनी बुद्धिसे ही ईश्वरको देखना चाहता है, परन्तु उसको समझना चाहिये कि इसकी जीव बुद्धि पागल हुई हुई विपर्यय बुद्धि है, इस बुद्धिसे जो कुछ निश्चय किया जावेगा वह विपरीत निश्चय होगा, क्योंकि यह जीव बुद्धि सर्वदा अलीक है।

इसको ईश्वरकी बुद्धिका आश्रय लेकर, अपनी बुद्धि सहित सब पूर्व निश्चय को मिथ्या जानकर उसका अत्यन्ताभाव, कर देना चाहिये, और ईश्वरके ही निश्चयमें आराम पाना चाहिये, क्योंकि वह निश्चय ही निःस्वार्थ होनेसे, यथार्थ है, तथा विश्वासके योग्य है और जीवोंके कल्याणार्थ ही किया हुआ है, सो निश्चय यह है **सदसच्चाहमर्जुन** अर्थात् जो व्यक्ताव्यक्त तुमने मान रखा है, वह नहीं है जो कुछ है सो मैं हूं।

"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय"

अर्थात् हे अर्जुन मुझसे अन्य पर कुछ नहीं है-

"अहमात्मागुडाकेश सर्व भूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्तमेवच ॥"

अर्थात् हे गुडाकेश सर्व भूतोंमें स्थित आत्मा मैं हूं और मैं ही भूतोंका आदि मध्य और अन्त हूं।

अब, जब, भगवानने ही तुमको अपनी बुद्धि प्रदान करदी तो भगवानके निश्चयसे बाहर तुम कहां रह सकते हो ? "जो कुछ है सो

मैं हूं" बस, श्रीभगवानके इसी निश्चयको तुम स्वीकार करो, इसीका अभ्यास करो, अपने प्रथक अनुभव और अभ्याससे ईश्वरको मत समझो क्योंकि वह विपर्यय ग्रस्त है, जब कोई व्यर्थ विपरीत बात करे तब उसको इसी निश्चयसे काट दो कि ईश्वरके निश्चयसे मैं और सब ईश्वर है।

ईश्वरके निश्चयसे तुम ईश्वर हो क्योंकि उससे अन्य कोई नहीं है, बस फिर तो अपना भी वह ही अनुभव हो गया, और तुम्हारा वेदका तथा महात्मा जनोंका अनुभव एक ही हो गया, यह ही निश्चय उत्तम है, एक हिन्दू मुसलमानका जल मात्र पीनेसे अपनेको मुसलमान मान लेता है क्या तुम ईश्वरके निश्चयको नहीं मानते।

सर्वानर्थकारी, दासत्वमें ढकेलनेवाली तथा द्रव्य नष्ट करनेवाली राजकर्मचारियों वाली राज द्वारा प्रदान की हुई, राय साहब आदिक उपाधिको, लोग प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं, तुम ईश्वरके प्रदान किये हुए ईश्वरत्व को नहीं स्वीकार करते कि—"अहमिदं च सकलं ब्रह्मैव ?"

एक अखण्ड सत्ता दृष्ट आ रही है, परन्तु विपर्यय दृष्टिसे अन्यथा वृक्ष पाषाणादिक इदन्ताको मान कर, सब जन दुखी हो रहे हैं।

महा रामायणमें कहा है :—

'बड़ा आश्चर्य है जो अखण्ड सत्य ब्रह्म है वह लोगोंको भूल गया और जो अत्यन्त असत्य दृश्य, सो सत्य माना जा रहा है।'

जो विद्यमान भासमान है सो ब्रह्म है सो आत्मा है, शेष यदि कुछ हो तो, वह अविद्यमान अभासमान अनात्मा होगा।

'यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं यच्चान्यतो भाति न चान्यदस्ति । स्वभाव संवित्प्रति भाति केवला ग्राह्यँ गृहीतेति मृषाविकल्पः ।'

अर्थ यह है कि—जो है विद्यमान और भान होता है, वह आत्मा ही है, और जो अन्य होवे, सो नहीं है न भान होता है, स्वात्म चैतन्य सत्ता केवल भान हो रही है, ग्राह्य और गृहीता मिथ्या विकल्प है ।

'उपशम सुख माहरेत् पवित्रं, शम वशतः शममेति साधु चेतः । प्रशमित मनसः स्वके स्वरूपे, भवति सुखे स्थिति रुत्तमा चिराय ।'

अर्थ यह है—अपने आपमें समाजाना रूप जो स्वरूप सुख है और वह पवित्र है (विषय लिप्त अपवित्र जन्य सुख नहीं) उसको प्राप्त करो, निर्दोष चित्तवाला पुरुष शमके वशसे शान्तिको प्राप्त होता हैं, प्रशमित मन वाले विद्वान्‌की, स्वस्वरूप सुखमें चिर पर्यन्त उत्तम-स्थिति होती है ।

ईश्वरकी अपनी ही अविद्या है और अपने ही अन्तर्गत है, कहीं वाहर नहीं है, जव अपनी ही अविद्या द्वारा जीवत्व कल्पता है तब जीवत्व दृष्टिसे अन्यथा देखता है और अपनी ही विद्यासे उसकी निवृत्ति हो जाती है, सो निवृत्ति की नहीं जाती केवल ज्ञात होती है, कि सदा से निवृत्त ही थी, अविद्या व्यर्थ ही मान ली गई थी ।

जिस प्रकार यदि कोई राजा राजावेषसे झाड़ूका काम करे तो भी वह लीलामात्र ही है, इसी प्रकार ईश्वर सदा ईश्वर ही है तथा ईश्वर ज्ञान नित्य है, केवल कल्पित माया उपाधिकी दृष्टिसे जीव जगत् लीला धारण की है, क्योंकि यह लीला ही है न परार्थ है न स्वार्थ हैं।

वह लीला मात्र ही सृष्टिकर्ता है, तथा जीव रूपसे प्रवेश करता है तथा अन्तर्यामी रूपसे न्यामक है, और गुरुके उपदेशसे मुक्त होता है, ऐसा भी आप ही मानता है, परन्तु वास्तविक दृष्टिसे सर्व विनिर्मुक्त अद्वियीय आप ही आप है।

ईश्वर दृष्टिसे सब कुछ मैं हूं यह भी समझाने मात्र ही को कहा, क्योंकि ब्रह्मकी समझ भी ब्रह्मसे पीछे ही तो कल्पना की गई है, और ब्रह्म तो इस निश्चयसे पूर्व ही विद्यमान है, इसलिये सर्व निश्चय से पूर्व एक निर्विभाग अद्वैत सत्ता स्फूर्ति रूप मेरी आत्मामें ही सदा विद्यमान हूं इस दृढ़ परिपक्व दृष्टिके होते जगत कहीं भी और कुछ भी नहीं है।

(३७) प्रश्न—हे भगवन् संसार अनादि है और सदासे स्थायी माना जा रहा है, फिर शास्त्रमें उसको क्षण भङ्गुर क्यों कहा है ?

उत्तर—भूत भविष्यत् वर्तमान यह जो तीन काल माने जाते हैं, उनमेंसे यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि भूत कालका आदि तो था। परन्तु अन्त कहीं नहीं मिलता, और भविष्यत्का आदि कहीं नहीं है, परन्तु अन्त देखनेमें आता है, कि वही भविष्यत् वर्तमान होकर तुरन्त भूत हो जाता है, और वर्तमान वास्तवमें कुछ

नहीं है, केवल भविष्यत् और भूतकी सन्धिका नाम वर्तमान है, सो सन्धि भी कुछ नहीं है।

जिस प्रकार सीमा दो देशोंके बीचकी कल्पना है, सो दोनों देशोंमें विभक्त है, पृथक कुछ नहीं है और जिस प्रकार, जिसकी लम्बाई हो परन्तु चौड़ाई कुछ न हो सो रेखा कल्पना की जाती है, वह कल्पना मात्र ही है वास्तवमें कुछ नहीं है, इसी प्रकार कालकी कल्पना है, अनागत तो अनुभूत नहीं, और भूत व्यतीत हो चुका, शेष वर्तमान कहते-कहते भूत हुआ जाता है इसीमें यह सारा संसार है जो दृश्य माना जाता है।

२१६०० स्वांस प्रति दिन मनुष्यके चलते हैं और १ स्वांस वाले कालमें २१६०० योजन सूर्यकी गति है, और जितना काल परमाणुके त्रिस्रेणुका १/६. भाग परमाणु होता है उसके उल्लङ्घनमें सूर्यको लगता है सो एक क्षण माना गया है, इतने एक क्षणमें वर्तमान कालकी कल्पना की गई है जिसमें यह सब जगत है, यदि सो क्षण भी, कुछ हो, तो भूत और भविष्यत् दो बराबर भागमें ही विभक्त करना पड़ेगा, फिर वह क्षण आप कुछ न रहेगा।

मिथ्या ज्ञानके सादृश्य संस्कारोंसे क्षण-क्षणमें वैसा ही संस्कारों का समुदाय रूप संसार कल्पा जाता है, परन्तु वह तो व्यतीत हुआ, इसलिये संसारकी कल्पना कुछ नहीं है, वास्तवमें अखण्ड, निर्विभाग सन्मात्र ही जैसाका तैसा स्थित है।

जो बटके बीजमें बटका वृक्ष रहता है और जलके संयोगसे प्रादुर्भूत हो जाता है सो तो सम्भव है कुछ अणु रूप सूक्ष्म द्रव्य होवे

भी, परन्तु ब्रह्ममें तो जगत, केवल वासना मय यानी मिथ्या ज्ञानके संस्कार मात्र ही है, और कुछ नहीं है, और सो संस्कार भी मिथ्या-ज्ञान है, यथार्थ दृष्टिसे कहीं नहीं, केवल चिन्मात्र सन्मात्र ही सर्वदा काल जैसेका तैसा है।

(३८) प्रश्न—हे भगवन् यदि सब जो कुछ दृष्टि आता है अस्ति भांति प्रिय रूप ब्रह्म ही है तो अस्ति भातिप्रिय ही सदासे दृष्टि गोचर होना चाहिये था। यह पहाड़ पाषाण आदिक क्यों दृष्ट आते हैं ?

उत्तर—जैसे, एक अद्य जात वालकका चित्र उसीकी ६० वर्षकी आयुषके चित्रसे मिलाया जावे तो मिलता नहीं, परन्तु प्रत्येक दिन का चित्र लिया जावे तो प्रथम दिन वाले चित्रका दूसरे दिनके चित्र से सादृश्य मिलते-मिलते अन्तमें ६० वर्षकी आयु वाले चित्रसे मिल जाता है, इसी प्रकार, यह पषाणका टुकड़ा ब्रह्म नहीं दृष्ट होता है। परन्तु सादृश्यता वाले अध्यासकी परम्पराके विचारसे देखा जावे तो, वह पृथ्वी मात्र है और पृथ्वी कारण रूप जल मात्र है, और जल रूप तन्मात्र है, और रूप स्पर्श तन्मात्र है, और स्पर्श शब्द मात्र है, शब्द मिथ्या ज्ञान जन्य संसार मात्र है, और संस्कार ज्ञान मात्र है, और वह चिन्मात्र है इससे निर्णय हुआ कि चिन्मात्र सत्ता से इतर कुछ नहीं केवल चिन्मात्र ही चिन्मात्र है।

(३९) प्रश्न—हे भगवन् इस संसारको स्वप्नवत् क्यों वेदान्त शास्त्र और ब्रह्म ज्ञानी महात्मा कहते हैं, यह संसार जाग्रतमें स्पष्ट सत्य दृष्टि आता है, फिर यह मिथ्या कैसे है, और इस संसारका कारण कौन है, कृपा करके कहिये।

उत्तर—कार्य-कारणता दो प्रकारकी होती है एक तो वास्तविक कार्य कारणता होती है जैसी गो से गो की होती है, और दूसरी बौद्ध कार्य कारणता यानी बुद्धि निष्ठ कल्पित कार्य कारणता होती है जैसे रज्जुमें सर्पकी होती है और इसी प्रकार आत्मामें जगतकी है।

जहां वास्तविक कार्य कारणता है वहां यदि कारणके स्वरूपमें सन्देह हो और कार्य सम्यक् ज्ञात हो, तो कार्यसे कारणके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है कि जैसा कार्य हैं वैसा ही कारण होगा, अथवा कार्यके स्वरूपमें सन्देह हो और कारणका स्वरूप ज्ञात हो, तो कार्य के भी स्वरूपका ज्ञान हो जाता है कि जो कारणका स्वरूप है वह ही कार्यका स्वरूप है।

जहां बौद्ध कार्य कारणता है, वहां कारणके अज्ञानसे ही कार्य रहता है, और कारणके ज्ञानसे कार्यकी निवृत्ति हो जाती है, दूसरी विलक्षणता यह भी है, कि वास्तव कार्य कारणतामें कार्यकी उत्पत्तिके पीछे कारणकी आवश्यकता नहीं रहती, कारण वहां रहो वा न रहो, जैसे कि बच्छेके उत्पन्न हुए पीछे गौकी आवश्यकता कहीं बच्छेकी विद्यमानताके लिये नहीं हैं, परन्तु जहां बौद्ध कार्य कारणता है, वहां कार्य हुए पीछे भी कारणको विद्यमान रहनेकी आवश्यकता है, जैसे सर्प रज्जुके रहते ही भान हो सकता हैं अन्यथा नहीं हो सकता।

अब विचार करना चाहिये, कि जाग्रत स्वप्नकी वास्तविक कार्य कारणता है, जिसको हम जाग्रत कहते हैं उससे जाग्रत बुद्धि वाला स्वप्न होता है, जाग्रत बुद्धि ज्ञात होती है स्वप्न अज्ञात रहता है, और जाग्रतमें तो सन्देह भी है कि यह स्वप्न सम है वा नहीं, परन्तु स्वप्न

की जाग्रतमें सन्देह नहीं, वह स्पष्ट स्वप्न ही है, क्योंकि सजातीय कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, इससे ज्ञात हुआ कि कार्य स्वप्न का कारण जाग्रत भी स्वप्न ही है।

जिस प्रकार कि स्वप्नमें केवल जाग्रत ही बुद्धि ज्ञात थी, स्वप्न अज्ञात था, परन्तु पीछे वह स्वप्न प्रमाणित हुई, इसी प्रकार सब जाग्रतोंमें केवल जाग्रत बुद्धि ज्ञात और स्वप्न बुद्धि अज्ञात होनेसे यह सिद्ध हुआ, कि जो-जो भी जाग्रत है वास्तवमें स्वप्न है।

क्योंकि जाग्रतकी केवल ज्ञात सत्ता है, परन्तु स्वप्नकी ज्ञात अज्ञात दो सत्ता हैं इसलिये स्वप्नकी दो सत्ता होनेसे (कार्य रूप) जाग्रत (कारण रूप) स्वप्नमें मिथ्या है, वास्तव स्वप्न है, जाग्रत भ्रम है, इसी प्रकार जगत जाग्रत ज्ञात है परन्तु उसकी स्वप्न रूपता अज्ञात है, शास्त्रसे उसकी भ्रम रूपता और स्वप्न रूपता निश्चय होती है, कि स्वप्न और स्वप्नसे स्वप्नान्तर यह ही भ्रम रूप सर्ग परम्परा अनादि कालसे चला आ रहा है।

द्रष्टा स्वप्न कालमें जाग्रत मानता है उसमें अप्रसिद्ध अध्यास ही हेतु है, स्वप्नसे इतर जाग्रत कहीं देखी नहीं, स्वप्नसे स्वप्नान्तरमें नया ही नया जाग्रतका अध्यास है, भ्रमसे प्रतीत होता है कि पहिले भी जाग्रतमें यही देखा था, किन्तु वह नहीं है दूसरी ही सजातीय प्रतीति है, जिस प्रकार कि जब जब अन्धेरेमें रज्जु विषय सर्पका अध्यास होता है सो पहिलेके सदृश भान होता हुआ भी नया अध्यास है, इसी प्रकार जो-जो जाग्रत भान होता है सो-सो स्वप्नसे स्वप्नान्तरमें नया-नया अध्यास है।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष स्वप्न कालमें जाग्रत बुद्धि होती है, तब द्रष्टा जिस प्रपंचको देखता है उस कालमें द्रष्टा स्वयं प्रपंचका सृष्टा और उस प्रपंचका ज्ञाता भी है, परन्तु अपने आपको सृष्टा मानता नहीं, भिन्न ईश्वरको ही सृष्टा मानता है और अपने आपको उस अध्यस्त जाग्रतका अभिमानी मानता है तथा उस अवस्थाको सद्य जाग्रत मानता है, यह अन्यथा ग्रहण ऐसा ही सव प्राणियोंको अनुभव होता है, परन्तु दूसरी अवस्था वदलने पर ही वह अवस्था स्वप्न रूपसे जानी जाती है, इसी प्रकार यह जगत रूप जाग्रत भी अज्ञान तत्कार्य अन्यथा-ग्रहण रूपी स्वप्न कालमें सत्य भान होती है, बोध जाग्रतके हुए स्वप्न ही हैं :—

जिस प्रकार स्वप्नमें जाग्रत ज्ञात और स्वप्न अज्ञात था, इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्ममें कल्पित अज्ञात-तत्कार्य रूपी स्वप्नमें, जगत रूप जाग्रत-भाव ज्ञात है और ब्रह्म भाव अज्ञात है, जव गुरु शास्त्रसे ब्रह्म भिन्न साक्षि भावपत्ति रूप वास्तव जाग्रत होवे तो जगत जाग्रत सहित अज्ञान निद्रा रहेगी नहीं, जगतकी ओरसे सुषुप्ति और ब्रह्मसे अभिन्न साक्षि भावमें जाग्रत यह ही परम पुरुषार्थ है।

अव विचार करना चाहिये कि जितना जो स्वप्न होता है सो क्षणमात्र प्रतीति, निद्राके अन्तर्गत होती है, सुषुप्तिमें केवल अप्रतीति ही अप्रतीति है, उसीके अन्तर यह स्वप्नरूप प्रतीति होती है, चारों ओर घोर अन्धकार वा अज्ञान रहता है बीचमें अंधेरेमें जुगनूकी चमक वत्, अन्यथा ज्ञानरूप स्वप्न प्रतीति चमकती है, सो अज्ञानका ही कार्य है और अज्ञानके ही अन्तर्गत है।

अब भी यहां जो घटका ज्ञान है, उसके बाहर घटकी अप्रतीति ही है, बाह्य (अव्यक्त) अप्रतीति-रूपी अज्ञानके अन्तर्गत ही (व्यक्त) घट पटादिकका ज्ञान चमकता है, सो अब इस प्रकार है :—

जिस प्रकार चारों ओर अन्धकार हो और एक खद्योत चमकता हो, तो वहां तीन होते हैं। (१) देखने वाला (२) अन्धकार (३) क्वचित क्षणमात्र खद्योतकी चमक। इनमेंसे द्रष्टा, ज्ञात अन्धेरे और चमक दोनोंको जानता है, इसी प्रकार (१) ग्रहणरूप आत्मा (२) अग्रहण यानी अज्ञानरूप सुषुप्ति (३) जाग्रत संसार रूप अन्यथा ग्रहण यह तीन ही रहते हैं इसमें यह संग्रह विचार है।

(क) ग्रहण यानी ज्ञानरूप आत्मा स्वयं प्रकाश है उसका ग्रहण नहीं हो सकता, भाव यह है कि आत्मा किसी ज्ञानका विषय नहीं है।

(ख) यह आत्माकी अग्राह्यता रूप अज्ञान, आत्माके स्वाभाविक है, मोक्ष कालमें भी रहता है और आत्माके स्वरूपमें ही है, क्योंकि ग्रहणरूप आत्माके स्वरूपका सदा ही अग्रहण है, यानी सदा अज्ञानता है, यह ग्रहणका यानी ज्ञानरूप आत्माका अग्रहण ही अज्ञान कहलाता है।

(ग) उसी कारण अज्ञानसे आत्मा ही अन्यथा रूपसे यानी जीव जगदादि द्वन्द रूपसे अध्यस्त हो रहा है, ग्रहणका ग्रहण ही अन्यथा ग्रहण कहलाता है, यह अन्यथा ग्रहण रूप संसार है सो अनादि है।

(घ) गुरु शास्त्रके उपदेशसे जाना जाता है कि जीव जगदादि सब आत्माका अन्यथा ग्रहण है और उसका कारण आत्माका अग्र-

हण रूप अज्ञान है, सो समझना चाहिये कि कुछ आप वास्तवमें आत्मासे पृथक् नहीं है, उस ही का चमत्कार है, केवल ग्रहण रूप आत्मा ही अपने आपमें स्थित है इसीको सम्यक्ज्ञान रूप मोक्ष कहते हैं।

(ङ) यह निश्चय दृढ़ रखना चाहिये कि 'मैं सदा अद्वितीय ब्रह्म नित्य मुक्त हूं' इदन्ता कभी हुई नहीं, जो इदन्ता दृष्ट आ रही है सो वस्तुकी दृष्टिसे देखी जावे तो कहीं भी नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्म दृष्टिसे देखी जावे तो अज्ञान और अन्यथा ज्ञान कहीं भी नहीं है, केवल आप ही आप स्वयं प्रकाश आत्मा पूर्ण है।

(४०) प्रश्न—हे भगवन् , सर्व निश्चयोंमें सार रूप जो आप सदृश मुक्तोंका अनुभव है सो संक्षेपसे कथन कीजिये।

उत्तर—धैर्य ब्रह्म स्वरूप है और अधैर्य क्षुभित अविद्या है और उसमें अध्यस्त है, सदसच्चाहँ यह अनुभव ईश्वरका है इसलिये जन्य नहीं है किन्तु स्वरूपाविर्भावमात्र नित्य अनुभव है, उसकी दृष्टिमें सदा ब्रह्म ही है कोई अन्य जीवनमुक्ति आदिक आविद्यक कल्पना नहीं है।

शब्दादि मात्र ही इन्द्रियोंसे ग्राह्य है, गो घट आदिकका ग्राहक न इन्द्रिय है न कोई अन्य, आविद्यक कल्पना मात्र जहां है वहां ही है, ब्रह्म दृष्टिसे कहीं नहीं, सब कुछ भासते हुए भी मूलसे दर्पणमें आभासका अभाव है, इसी प्रकार अनेक क्षोभ रहित, अन्तरसे अविद्या-दृश्य रहित ब्रह्म ही आप है, सो ब्रह्म अद्वितीय अखण्ड मेरा अपना आप है, यह ही मुक्तोंका अनुभव है।

मनुष्य बुद्धिसे जो निश्चय होता है सब अहङ्कार युक्त है, और अलीक है, ईश्वरका निश्चय ही सत्य है, उसीमें अपनेको मिला कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये, 'जो कुछ है सो मैं हूं' यह ईश्वरका निश्चय है यह ही यथार्थ निश्चय है, वस इतना ही निश्चय पर्याप्त है।

जिनकी दृष्टिमें मृत पिण्ड और घट है, उनकी दृष्टिमें मृद् घटका हेतु है, और घट कार्य है, परन्तु जिनकी दृष्टिमें केवल मृत्तिका है, उनकी दृष्टिमें हेतु कार्य कुछ नहीं, इसी प्रकार जिनकी दृष्टिमें अविद्या और संसार है, उनकी दृष्टिमें ईश्वर कारण है और जगत कार्य है, परन्तु जिनकी दृष्टिमें केवल सन्मात्र-चिन्मात्र है, उनके अविद्या संसार हुआ ही नहीं, तव कारण कार्य कहां है।

जब यह ईश्वरका ज्ञान विद्यमान है कि 'जो कुछ है सो सब मैं हूं' 'मुझसे अतिरिक्त नहीं है' तव बस ईश्वर ही ईश्वर है, सब विद्या अविद्या ईश्वरके ही अन्तर्गत हैं, दोनों ईश्वर स्वरूप हैं प्रबुद्ध भी और अप्रबुद्ध भी।

अपनी अविद्याकी अपनी ही विद्यासे निवृत्ति हो जाती है सो इस प्रकार ही है जैसे अपनी खाज अपने ही खुजानेसे मिट जाती है।

मिथ्या कल्पित ही अविद्या, अपने ही ज्ञानसे अत्यन्त असत् निश्चय की हुई, 'पूर्वसे भी अत्यन्त निवृत्त ही निवृत्त हुई है।' प्रकारसे ज्ञात हुई-हुई पुनः नहीं आ सकती है।

(४१) प्रश्न—हे भगवन्, ईश्वर प्राप्ति किस प्रकार हो सो पुनः दृढ़ बोधार्थ कृपा करके कहिये।

उत्तर—त्यागसे ही ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है, ईश्वर हुआ ही ईश्वरको मिल सकता है, जीव होकर नहीं मिल सकता, ईश्वरने कुछ नहीं रखा, 'सदसच्चाहं' कह कर सब कुछ अपनेसे इतर त्याग दिया, भक्तको स्वामीसे भी अधिक त्यागकी आवश्यकता है, उसको यह समझना चाहिये कि जो 'सदाचाहं' भगवानका निश्चय है सो हो ही चुका है, अब भगवान ही उसको रखे, हमको उस निश्चयके रखने की भी आवश्यकता नहीं है, यह समझ कर उस निश्चयको भी ईश्वरके ही समर्पण कर दिया जावे।

मांगना और लेना भक्तिका अंग नहीं है, प्रह्लादको भगवानने वर मांगनेको कहा तो उसने कहा, कि आप तो अनाश्रय हैं, निर्विशेष हैं, आपसे इतर आपके पास कुछ है नहीं, और मुझे कुछ आवश्यकता नहीं, मैं निष्काम हूं, इसलिये लेना-देना बनता ही नहीं, जो लेने मांगनेकी इच्छा करता है वह भक्त नहीं—अहंता, इदन्ता, मन, सब भगवानके अर्पण करदो।

'सदसच्चाहं' कहनेसे यह आशय नहीं है कि सदासद् भी है और वह भी मैं हूं, सद्-असद् यानी व्यक्त-अव्यक्त तो कुछ है ही नहीं, यही श्री भगवानने कहा है—'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' इतिं सदासद् विनिर्मुक्त मैं ही मैं हूं।

(४२) प्रश्न—हे भगवन्, मन तो साथ-साथ है उसका किस प्रकार त्याग होवे ?

उत्तर—एक अंगुष्ठमात्र ही मन है जिसमें इतना यह सब संसार

दुःख है, शेष सब ब्रह्म ही है फिर यह भी मन त्याग कर क्यों न निश्चिन्त होवें ?

अन्य अन्तःकरणोंकी तो इसको कुछ परवाह नहीं है सब भगवानको दे दिये, यह क्यों बचा कर रखा है, यह भी अन्य अन्तः-करणोंमें मिला दिया जावे और आप निश्चिन्त हो रहे।

असद् मनके ग्रहणसे क्या प्रयोजन है यह मन ही अन्यथा ग्रहण है, त्यागसे यह तात्पर्य्य इष्ट नहीं है कि कुछ त्यागना ग्रहण करना है, क्योंकि जहां त्याग है वहीं ग्रहण भी है, जो इदन्ता ग्रहण है वह ही इदन्ता विनिर्मुक्त त्याग है, यह समझना ही है करना कुछ नहीं।

(४३) प्रश्न—हे भगवन् बाधितानुवृत्ति क्या है ? कृपा करके निरूपण कीजिये।

उत्तर—बाधितकी आभास मात्र पुनः आवृत्ति बाधितानुवृत्ति है, जिस प्रकार किसी पुरुषको दोष-युक्त नेत्रसे दो चन्द्र दिखाई देते हैं, परन्तु स्वस्थ दशामें उसने यह दृढ़ अनुभव किया था कि एक ही चन्द्र है, इसलिये अब भी उसको दो चन्द्र नहीं दृष्ट आते, एक ही दृष्ट आता है, हृदयसे दो चन्द्र न देखता हुआ भी, दो चन्द्र असत् मानता हुआ भी, दो चन्द्र देखता भी है, दो चन्द्र वहाँ भी नहीं और कहीं भी नहीं थे और पुनः-पुनः दीखते भी हैं, इसी प्रकार केवल अविद्या दोषसे अध्यस्त हुई-हुई असत्य दृश्यकी भी, जो अविद्याके मिथ्या ज्ञान जन्य संस्कार निमित्तसे आवृत्ति है, सो ही बाधानु-वृत्ति है।

वह दृश्य जहां अध्यस्त रूपसे प्रतीत हुआ है, वास्तवमें वहां भी

और कहीं भी नहीं हैं, और यह सब इदन्ता कहीं भी नहीं है और जहां भासती है वहाँ भी नहीं है, परन्तु बोधसे बाधित हुई-हुई भी पुनः-पुनः इसकी आवृत्ति देखनेमें आती है सो बाधितानुवृत्ति हैं, सो भी अत्यन्त निवृत्ति ही है क्योंकि बोधपूर्वक है इसलिये ब्रह्मरूप ही है इतर नहीं है।

बकरी समूहमें पले हुए सिंहकी न्यांई यह दृश्य विनिर्मुक्त असंसारी-आत्मा अविद्या-दोषसे आप ही, साक्ष्य हुआ-हुआ, प्रमाता साक्षि होकर दृश्यको मानता है, यह नहीं कि दृश्य प्रथम था और उसको देखता है, ऐसा हो तो दृश्य और सम्बन्ध सत्य होनेसे अनिर्मोक्ष होगा सो श्रुति विरुद्ध है, व्यवहार भी कल्पित भेदमें और वास्तव अभेदमें ही बनता है।

(४४) प्रश्न—हे भगवन्, **"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"** इस श्रुतिमें "अपरोक्ष" शब्दके साथ "साक्षात्" शब्दको मिलानेका क्या तात्पर्य है? सो कृपा करके कहिये।

उत्तर—इसका तात्पर्य यह है कि अपरोक्ष तो घट पटादिक भी होते हैं, परन्तु किसी अन्यके द्वारा अपरोक्ष होते हैं, द्वार बिना नहीं, इसलिये वह साक्षात् अपरोक्ष नहीं है, और आत्माकी अपरोक्षता किसी द्वारा नहीं है, किन्तु स्वयं है इसलिये आत्मा साक्षात् ही अपरोक्ष है सो इस प्रकार समझना चाहिये :—

घट पटादिक पदार्थ सम्मुख हैं अपरोक्ष है, परन्तु रूप द्वारा अपरोक्ष है बिना रूपके नहीं, रूप भी अपरोक्ष है परन्तु आलोक द्वारा, सूर्यालोक भी अपरोक्ष है परन्तु चक्षु द्वारा चाक्षुष वृत्ति अप-

रोक्ष है, परन्तु मनके द्वारा मन अपरोक्ष है परन्तु आत्माकी सत्ता स्फूर्ति द्वारा और आत्मा तो विना किसी द्वारा स्वयं प्रकाश सक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है।

(४५) प्रश्न—हे भगवन्, "ब्रह्म ब्रह्मणि वृँहितं" इस वेदांत की पंक्तिका क्या भावार्थ है कृपा करके कहिये।

उत्तर इसका अर्थ यह है, अविस्तार ब्रह्म है विस्तार कल्पित है, यदि विस्तारकी प्रतीति हुई हो तो शशश्रृङ्गकी भी होनी चाहिये, सो प्रतीति अविद्या-कृत विस्तारकी नहीं है वह तो ब्रह्मकी है केवल विस्तारका अध्यास है सोई अविद्यमान है और अविद्या है।

(४६) हे भगवन्, अज्ञान निवृत्त हुए पीछे यदि कतकरेणु वत् ज्ञान भी निवृत्त हो जाता है, तो यदि निवृत्त अज्ञान पुनः आ जावेगा तव इस ज्ञानसे क्या लाभ हुआ ?

उत्तर—आत्मा ज्ञान अज्ञान दोनोंसे विनिर्मुक्त है। यह नियम नहीं है कि जहां ज्ञान है वहां अज्ञान, और जहां अज्ञान है वहां ज्ञान नहीं रहता। किन्तु देखो अज्ञानमें जगतका ज्ञान है। ज्ञानसे अज्ञान के निवृत्त हुए, ज्ञानकी भी आवश्यकता न रहनेसे वह भी निवृत्त हो जाता है, पुनः वह अज्ञान नहीं उलट कर आ सकता। जो लोग दृष्टान्त देते हैं कि जहां प्रकाश नहीं तम अवश्य रहता है, सो कथन ठीक नहीं, भूमिकी अपेक्षासे आलोकके ओटमें आ जानेके कारण तमकी कल्पना करते हैं, महा प्रलयमें भूमि सूर्यादिक सव उपाधिका अभाव हो जानेसे न तेज है न तम है, तद्वत् ज्ञान अज्ञान रहित ही ब्रह्म है।

(४७) प्रश्न—हे भगवन् विद्या द्वारा अविद्याकी निवृति कैसे होती है ?

उत्तर—(१) लौकिक अविद्या लौकिक भ्रम रूप है सो लौकिक विद्यासे निवृत्त होवे है जैसे रज्जुके ज्ञानसे सर्प भ्रम दूर हो जाता है ।

(२) लौकिक विद्या ऐन्द्रिक अविद्या रूप है सो ऐन्द्रिकी विद्या से दूर होते हैं जैसे रूपका विशेष अज्ञान पीत नीलादिके ज्ञानसे दूर होता है ।

(३) ऐन्द्रिक विद्या, मानसी अविद्या स्वरूप है और इस मानसी विद्यासे दूर होती है कि सब विषय मानस मात्र है ।

(४) मानसी विद्या तात्विक अविद्या स्वरूप है सो तत्वका अज्ञान रूप है तत्व विद्यासे दूर होते हैं कि सब ब्रह्म है ।

इत्योम्

इति श्रीमान् दुर्गाप्रसादात्मज

सीताराम गुप्त कृत वेदान्त रसबिन्दुः

श्री कृष्णार्पणमस्तु

शुभम् भवतु

———

हरिः ॐ तत् सत् श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः

श्री मङ्गलोपदेश रसायन

विषय की सूची

प्रश्नोत्तर रसमालिका

(१) हे भगवन्, यह जगदाडम्बर क्या है, और इसके निरूपण के लिये भिन्न-भिन्न वादकी कल्पना कैसे हुई तथा मुख्य सिद्धान्त क्या है, सो कृपा करके कथन कीजिये।

(२) हे भगवन्, अपरोक्ष ज्ञानके पश्चात् विद्वान्‌को सदा स्मृति रहती है अथवा नहीं, और आत्माका अनुमान प्रमाणसे जन्य विज्ञान हो सकता है या नहीं, सो कृपा करके कहिये।

(३) "यच्छेद् वाङ मनसि प्राज्ञः" इस श्रुतिमें, यच्छ शव्दसे श्रुतिके उपदेशका क्या तात्पर्य्य है ?

(४) ऐतरेय उपनिषदमें जाग्रदादिक तीनों अवस्थायें स्वरूप क्यों कहीं हैं ?

(५) हे भगवन् "सर्व भूतेषु चात्मने सर्व भूतानि चात्मनि ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः" इस श्लोकमें, श्री भगवान् ने सर्व भूतोंका और उनमें एक ही आत्माका दर्शन करना तथा एक आत्मामें सर्व भूतोंका दर्शन करना, यह समदर्शी योगीका लक्षण कहा—इससे ज्ञात होता है, कि भूत और आत्मा दो वस्तु हैं, तब अद्वैत दृष्टि कहां हुई, कृपा करके इस शङ्काका समाधान कीजिये।

(६) हे भगवन् कृपा करके यह कथन कीजिये, कि देहाभिमान की निवृत्ति किस प्रकारसे की जावे।

(७) श्री वाल्मीकीय महारामायणसें, श्री वसिष्ठजीने श्री रामजीको यह उपदेश किया है—"दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाण वत् सयम्। एतावदात्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥" इस श्लोक का क्या भावार्थ है।

(८) हे भगवन्, जो सुख अनुभवमें आता है, वह तो सोपाधिक और अनात्मा है, परन्तु आत्माको सुख स्वरूप सुना है।

यह आत्माका स्वरूप-भूत सुख अन्य सुखोंकी न्यांई, कुछ अनुभवमें नहीं आता है; इसलिये उसको कैसे समझना चाहिये ?

(६) हे भगवन्, समाधी क्या होती है, और सहजावस्था किसको कहते हैं, कृपा करके निरूपण कीजिये।

(१०) हे भगवन्, अविद्या क्या है, कृपा करके कहिये, और उसकी निवृत्तिका उपाय भी कथन कीजिये।

(११) हे भगवन्, "अहं ब्रह्मास्मि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अहमेवेदं सर्वं" "नेति नेति" इत्यादिक श्रुति सम्मत अपरोक्ष ज्ञान होनेके पीछे शास्त्र उस विद्वान्को जीवन मुक्त ब्राह्मण ब्रह्मनिष्ठ इत्यादिक नामोंसे कहते हैं तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें श्री भगवान्ने भगवद् भक्त स्थितप्रज्ञ, और गुणातीत नामोंसे, उस विद्वान्के लक्षण भी कथन किये हैं। वह सम्पूर्ण लक्षण ब्रह्मवेत्ताओंमें चरितार्थ होने योग्य हैं, ऐसा न हो तो, ज्ञानकी क्या परीक्षा होगी ? परन्तु वे सब लक्षण नियमसे विद्वानोंमें, दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, इसका क्या कारण है,

और ज्ञानीके वास्ते काल क्षेपणके लिये, क्या उपाय है, यह कृपा करके निरूपण कीजिये।

(१२) क्या विद्वान्को स्वरूपानन्द आविर्भावके निरन्तर रहने के वास्ते सदा व्यवहारको अल्प रखनेकी आवश्यकता है, अथवा नहीं।

(१३) क्या व्यवहार कालमें भी विक्षेपके रहते हुए स्वरूपानु-संधान बना रह सकता है ?

(१४) "जो आसुप्तेरामृते कालं नयेद्वेदान्त चिन्तया" यह श्रुति है, सो ज्ञानी विद्वान्के लिये मरण पर्यन्त वेदान्त चिन्तनकी विधिको कथन करती है अथवा मुमुक्षुके लिये ?

प्रथम पक्ष तो युक्त हो नहीं सकता, क्योंकि विद्वान जो ज्ञानी है, सो विधि निषेधसे विनिर्मुक्त कहा गया है। दूसरा पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि मुमुक्षु भी विद्वान् ज्ञानी होने वाला है, तब मर-णान्त चिन्तनकी विधि कैसे हो सकती है, कृपा करके इस शङ्काका समाधान कीजिये।

पत्र मंजूषा, पूज्य पाद श्री स्वामी मंगलनाथजी महाराजके ३६ कृपा पत्र जो उन्होंने अपने सेवक सीतारामको ८-७-१६२८ सन् ईस्वीसे २७-७-१६२८ तक लिखे।

ॐ तत् सत् श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः

श्री मङ्गलोपदेश रसायन

प्रश्नोत्तर रसमालिका

प्रश्न—हे भगवन् यह सब जगदाडम्बर क्या है और इसके निरूपणके लिये भिन्न-भिन्न वादकी कल्पना कैसे हुई तथा मुख्य सिद्धान्त क्या है, सो कृपा करके कथन कीजिये।

उत्तर—यह जो नाम रूपात्मक ज्ञान है, सो सब अज्ञानके मध्य में है और क्योंकि अज्ञानका कार्य है, इसलिये अज्ञान रूप ही है तथा सब ओर अज्ञानसे ही आच्छादित है। जो घटका ज्ञान है, पट का ज्ञान है, शब्दादिका ज्ञान है, सो सब ही अज्ञान रूप है। इसमें यह दृष्टान्त है—

जिस प्रकार कि निद्रा और उसके अन्तर्गत सब कुछ कल्पना स्वप्न रूप है, स्वप्नमें स्वप्नान्तर भ्रम होता जा रहा है, परन्तु स्वप्न वाली निद्रासे पृथक कुछ नहीं है, इसी प्रकार अज्ञानका कार्य सब घटादिक प्रपञ्चका ज्ञान, अज्ञानके ही अन्तर्गत है। यदि विचार पूर्वक चिन्तन किया जावे तो अज्ञानको ज्ञानसेनाश हो जानेसे वह अज्ञान स्वयं कुछ नहीं है, केवल अद्वितीय अखण्ड विज्ञानही परिपूर्ण है।

कल्पित होनेसे अज्ञानकी कोई पृथक सत्ता नहीं है। अज्ञान और उसका सब कार्य बिना किसी कारणके, बिना हुए ही, माना जा

रहा है, सो कहीं ठहर नहीं सकता है और इसीलिये, अब भी नहीं है और कभी रहा भी नहीं है। "यन्नास्ति तत्तु नास्त्येव" अर्थात् जो नहीं है वह तो है ही नहीं। जिसने कल नहीं रहना है वह आज ही क्यों सत्य मान लिया जाये, और व्यवहार तो सब इसी अज्ञानके अन्तर्गत है, इसलिये सब कुछ "नासीदस्ति भविष्यति" यानी, न था, न है, न होगा' इसी निश्चयके अनुसार मानना चाहिये। अज्ञान और उसके कार्यको मिथ्या कहना भी मानो उसको स्थिर रखना हैं, इसलिये एक अखण्ड बोध स्वरूप केवल, घन जाग्रत ही समझना चाहिये।

बुद्धिके अनुसार नास्तिकोंके अणुवाद की कल्पना हुई फिर दुयणुक बाद की कल्पना हुई। पीछे परिणाम बाद की कल्पना हुई। शुद्ध बुद्धि होनेपर ज्ञानके लिये विवर्तवाद स्थापित हुआ, परन्तु यावत् कार्य की कल्पना है बिना कारण के ही है और सब असत् है, केवल अजात ब्रह्म अपना स्वरूप ही अनन्त अखण्ड सत्ता रूप है, इसलिये मुख्य सिद्धान्त अजात वाद ही मानने योग्य है। इत्योभ्

(२) प्रश्नः—हे भगवन्! अपरोक्ष ज्ञानके पश्चात् विद्वानको आत्मा की सदा स्मृति रहती है, अथवा नहीं, और आत्माका अनुमान प्रमाण से जन्य विज्ञान, हो सकता हैं, या नहीं, सो कृपा करके कहिये।

उत्तर,—स्मरणकर्ता की स्मृति नहीं हो सकती है और अनुमाताकी अनुमिति नहीं हो सकती है, क्योंकि स्मरण कर्ताका तथा अनुमानकर्ताका अपना आपा यानी आत्मा, स्वयं अपरोक्ष है, और

स्मृति परोक्ष की होती है, अपरोक्ष की नहीं। इसलिये आत्माका स्मरण अथवा अनुमान नहीं किया जा सकता है, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान ही होता है और जो ज्ञानसे पीछे स्मृति मानी जाती है, वह बोध की पुनरावृत्ति है आत्मा की स्मृति नहीं है।

यह बोध की पुनरावृत्ति ही ब्रह्माकार वृत्तिका प्रवाह कहलाता है, जो ब्रह्मनिष्ठामें उपयोगी साधन है, परन्तु आत्माका धर्म नहीं। अन्तःकरण का धर्म है, और अनित्य है। अपने [आपको सब स्मरण अनुमान आदिक अन्तःकरणके धर्मोंसे रहित नित्य सत्य जानना, यही अद्वैतावस्थान है। इत्योम्।

(३) प्रश्नः—"यच्छेद्वाङ्मनति प्राज्ञः......." इस श्रुतिमें "यच्छ" शब्दसे श्रुतिके उपदेश का क्या तात्पर्य है:—

उत्तरः—यहां "यच्छ" शब्दका अर्थ है पूर्व पूर्व व्यापार की उपरामता पूर्वक उत्तर उत्तर व्यापार को शेष रखना, यानी वागादिक इन्द्रियोंके, व्यापार का निरोध करके बलके मनका, सङ्कल्पात्मक व्यापार शेष रखना, फिर मनके सङ्कल्पात्मक व्यापार के निरोधका अभ्यास करके विशेष अहङ्कार मात्र ज्ञानात्माको शेष रखना, फिर उसका निरोध करके सूक्ष्म अहङ्कार रूप महान आत्माको शेष रखना, अन्तमें महानात्मा यानी सामान्य अहङ्कार को भी शान्तात्सामें निरोध करना।

(४) प्रश्नः—ऐतरेय उपनिषद् में, जाग्रदादिक तीनों अवस्थायें स्वप्न रूप क्यों कही हैं?

उत्तरः—आत्म दृष्टिसे तीनों अवस्था जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति

सब विपर्य्य रूप यानी मिथ्या है, इसलिये स्वप्न ही है यह तात्पर्य्य है। ॐ

(५) प्रश्नः—हे भगवन् "सर्व भूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि×ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः।" इस श्लोकमें श्री भगवान्‌ने सर्व भूतोंका और उनमें एक ही आत्माका दर्शन करना, तथा एक आत्मामें सर्व दर्शन करना, यह समदर्शी योगीका लक्षण कहा इससे ज्ञात होता है कि भूत और आत्मा दो वस्तु हैं। तब अद्वैत दृष्टि कहां हुई। कृपा करके इस शङ्काका समाधान कीजिये।

उत्तरः—इस श्लोकमें, श्रीभगवान्‌ने अज्ञोंके हृदयमें जो भूतोंकी दृष्टि है, उसका अनुवाद करके सर्व भूतोंसे विनिर्मुक्त आत्माका ही दोनों स्थलोंमें उपदेश किया है।

श्लोकका अर्थ यह है:—जो पुरुष सर्व भूतोंमें, (भूतोंका बोध करके, यानी उन भूतोंको स्वप्नके नरोंवत् अत्यन्त असत् समझ कर) अधिष्ठान सत्ता मात्र आत्माको देखता है। (क्योंकि भूतोंकी अपनी सत्ता कोई नहीं है) और आत्मामें सर्व भूतोंको बाधित देखता है। (यानी केवल अखण्ड आत्मा ही है भूत कुछ नहीं है ऐसा देखता है) सो योग युक्तात्मा है, सर्वत्र समदर्शी है यानी ब्रह्मदर्शी है। इस प्रसङ्गमें विद्वान भूतोंको नहीं देख सकता है, क्यों कि भूतोंवाली दृष्टि तो अज्ञ जनोंकी दृष्टि है।

जैसे कि "राम रावणयोर्युद्ध राम रावणयोरिव" अर्थात् राम रावणका युद्ध राम रावण युद्धके सदृश ही है। इस वाक्यमें कुछ दूसरा उपमान कथन इष्ट नहीं है केवल एक अनुपमेय युद्धके लखाने

का ही तात्पर्य है, इसी प्रकार पूर्वोक्त गीताके श्लोकमें केवल एक आत्माके लखानेका ही तात्पर्य है, भूतोंको लखानेका नहीं।

(६) प्रश्नः—हे भगवन् , कृपा करके यह कथन कीजिये कि देहाभिमान की निवृत्ति किस विचारसे की जावे।

उत्तरः—यह देह अपनी उत्पत्तिसे पूर्व नहीं था, बीचमें जब इस देहका आरम्भ होने लगा तब माता पिताके खाये हुए अन्न रसका विकार रूप मिश्रित रज तथा वीर्यका आकार मात्र था, पीछे बढ़ते-बढ़ते अब तोलमें दो मनका हो गया। और मृत्युके पीछे फिर यह नहीं रहेगा। इससे ज्ञात हुआ कि बीच ही बीचमें बुलबुले की न्याईं अथवा मरु भूमिमें मृगतृष्णाके जलकी न्याईं प्रतीत होता हुआ भी, यह देह वस्तुतः अविद्यमान ही है, यह समझ लेना उचित है।

आदिमें अन्न रूपसे, यह देह इदम् रूप था। अन्न खानेके पीछे वही अन्न, देहोऽहं हो गया। मल शेषमें भी, इदन्ता बुद्धि होती है, वही तो यह देह है।

सामान्य रूपसे, सबके देह एक जैसे ही हैं, परन्तु उन सबमें इसकी, इदं बुद्धि ही होती है, कभी भी अहं बुद्धि नहीं होती है। उन सबमें से इस एक स्वव्यक्तिमें, इसकी अहं बुद्धि होती है, उसमें ही, यह देहोऽहं बुद्धिको रखता है। यह देहमें अहं बुद्धि, इसकी विषम बुद्धि है वही इसको त्यागना उचित है।

सब देहोंमें अहं बुद्धि होना तो, इसके लिये असम्भव है, परन्तु इस देहमेंसे भी इसको अहं बुद्धि निकाल देना उचित है तथा अन्य देहोमें ही, इस देहको भी मिलाकर सबको इदं रूप समझ कर

(यानी अज्ञान कालका अभ्यास, वीचमें प्रतीत मात्र जान कर) उस इदन्ताका बोध, यानी सम्यक् मिथ्यात्व निश्चय कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार भ्रमसे इस देहमें आत्मत्व अभिमान होता है, इसी प्रकार प्रत्येक साक्षि कूटस्थ चैतन्य गत सत्यता भी इसने देहमें ही समझ रक्खी है, जिससे आपको प्रथम देह मान करके फिर आत्माकी सत्ताका देहमें आरोप करके यह अज्ञ, देहको ही "मैं हूं" ऐसे समझता है और उसको नित्य समझता है। तदनन्तर देहके धर्म जो जन्म मरण कर्तृत्व भोक्तृत्व भूख, प्यास, हर्ष, शोक, उनको प्रत्येक चैतन्य कूटस्थ निज आत्मामें मान कर अपने आपको कर्ता, भोक्ता, जन्मता, मरता, सुखी, दुखी, भूखा, प्यासा इत्यादिक मानता है, सो यह इसका अन्योन्याध्यास विचारसे निवारण होने योग्य है।

प्रत्येक चैतन्य देह जगत वाला नहीं, किन्तु अद्वैत पूर्ण एक सत्ता स्वरूप है, देह जगत् रूप इदन्ता सत्य नहीं, किन्तु उसके अत्यन्ताभाव पूर्वक अनिदम ब्रह्म सत्य है, यह विचार करके एक अखण्ड अनन्त केवल ब्रह्म ही समझ कर देहाभिमान निवृत्त हो जाता है।

(७) प्रश्नः—श्री वाल्मीकीय महारामायणमें श्रीवशिष्ठजीने श्रीरामजीको यह उपदेश किया है:—

"दृष्ट्वारम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत् समम्। एतावदात्म यत्नेन जिता भवति संसृतिः।" इस श्लोकका क्या भावार्थ है ?

उत्तरः—इस श्लोकका यह अर्थ है कि:—रम्य अथवा अरम्यको देखकर पाषाणवत् सम स्थित रहना चाहिये इतने ही अपने पुरुषार्थ

से संसारका विजय होता है। यहां रम्यता और अरम्यता दोनों भाव, आविद्यक हैं। इन दोनोंको मिथ्या निश्चय करके इनका बोध करके यानी अत्यन्त असत् समझ कर ही पाषाणवत् समता आ सकती है, और इस पुरुषार्थसे ही संसृति पर विजय होती है, यानी सम ब्रह्म भाव पूर्वक ज्ञानसे संसारका अत्यन्ताभाव होता है। यह तात्पर्य्य है।

जिस प्रकार सूर्य की धूप और वर्षा की ठंडमें भी पड़े हुए पाषाणकी पाषणता अटल है, पाषाणका स्वत्व यानी आत्मता कहीं नहीं जा सकती है, इसी प्रकार रम्यता अरम्यता रूप दृश्यसे विनिर्मुक्त आत्म सत्ता, सदा विद्यमान है उसका स्वत्व यानी स्वयं प्रकाश अपना आपा ज्यूं का त्यूं है। ऐसा असंग स्वस्वरूप, सर्वदा काल समझना चाहिये।

अन्य द्वैतका सदासे अभाव होनेसे यह आत्मा सदा स्वरूपसे असंग है। वाह्य व्यवहार की दृष्टिसे भी सदा असंसर्ग रहना योग्य है, तथा असंसक्त रहना चाहिये। ऐसा न करोगे, तो व्यवहारमें असावधान रहनेसे अहं मम दृश्य अवश्य चिपट कर दुःख देगा।

जिस प्रकार रेल गाड़ीका द्रष्टा, यदि गाड़ीको पकड़े तो उसके साथ खिचा चला जाता है, और दुःख पाता है, परन्तु द्रष्टा मात्रको, असङ्ग होनेसे कुछ दुःख नहीं है, इसी प्रकार सब व्यवहारमें भी असङ्ग यानी संसर्ग तथा आसक्तिसे रहित होकर अपने आपको द्रष्टा मात्र जान कर अन्य भेद दर्शनसे रहित होकर स्थित रहनेसे सदा आनन्द ही आनन्द है।

जैसे स्वप्न दृश्य, द्रष्टाके स्वरूपसे इतर नहीं है, इसी प्रकार द्रष्टा-इतर संसार दृश्य कुछ नहीं है, इसलिये इसकी असङ्गता अन्यका अभाव होनेसे, स्वरूप भूत ही निश्चय करने योग्य है, कर्त्तव्य कुछ नहीं है। इत्योम्

(८) प्रश्न—हे भगवन् , जो सुख अनुभवमें आता है वह तो सोपाधिक और अनात्मा है, परन्तु आत्माको सुख स्वरूप सुना है। यह आत्माका स्वरूप-भूत सुख अन्य सुखोंकी न्याईं कुछ अनुभवमें नहीं आता है, इसलिये उसको कैसे समझना चाहिये।

उत्तर—प्राणीमात्र सुखकी इच्छासे प्रयत्न करता ह और दुःख पाता है। सर्व विषय सुख, दुःख रूप है, आत्मा सुख स्वरूप है। जो-जो सुख अनुभवमें आता है, चाहे वह विषय जन्य हो अथवा समाधी जन्य हो, क्षणिक यानी अनित्य होनेसे आत्म स्वरूप सुख नहीं है। जो अनुभवमें आया हुआ सुख, आत्माका स्वरूप माना जावे तो मानो आत्मा सुखके अधीन है, सुखसे नीचे है, यानी सुखसे दवा हुआ है और सुख आत्माके ऊपर है, आत्मासे ऊंचा है।

परन्तु यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध है, इसलिये इष्ट नहीं है, क्योंकिं आत्म सुख, विपय सुखकी न्याईं सापेक्ष और सातिशय नहीं है. किन्तु निर्पेक्ष निरतिशय और स्वरूप भूत है। इसलिये जो-जो सुख इच्छाका विपय है और अनुभवका विषय है, वह सोपाधिक है, अनात्मा दृश्य रूप है और दुःख रूप है, किन्तु सुखकी इच्छा न होना ही आनन्द स्वरूप आत्मा स्वयं निर्दुःख सुख स्वरूप है। श्री अष्टा-वक्र मुनिने कहा है :—

'आयासात् सकलो दु:खी नैनं जानाति कश्चन ।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ॥'

इसका अर्थ यह है—सब लोग सुखकी इच्छासे सलोक तथा परलोकके वास्ते नाना प्रकारका परिश्रम करते हैं और दु:ख पाते हैं, परन्तु सुख कहां है, कहीं भी नहीं है। सुखकी इच्छाको त्यागनेसे ही सुख स्वरूप आत्मा अपना आप उपलब्ध होता है, परन्तु इस बातको कोई भी अज्ञ पुरुप जानता ही नहीं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस ही उपदेशसे 'मैं ब्रह्म हूं अब्रह्म कुछ नहीं है' ऐसा निश्चय करके 'धन्य' अर्थात् कृतकृत्य हुआ-हुआ सर्व दु:खोंकी निवृत्ति रूप परमानन्द स्वरूप अपने आत्माके साक्षात्कारको प्राप्त होता है।

(६) प्रश्न—हे भगवन् , समाधी क्या होती है और सहजावस्था किसको कहते हैं, कृपा करके निरूपण कीजिये।

उत्तर—समाधी दो प्रकारकी होती है। (१) एक क्रियां समाधी होती है और (२) दूसरी ज्ञेय समाधी होती है। (१) प्रथम जो क्रिया समाधी है सो मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता आदिक सामग्री के आधीन होती है और उत्थानको प्राप्त होती रहती है, वह अज्ञानका कार्य है और अज्ञानके अन्तर्गत है, उत्थानमें समाधीकी भावना मात्र है।

(२) दूसरी जो ज्ञेय समाधी है, इसको 'तत्वादप्रच्युतो भवेत्' अर्थात् तत्वसे चलायमान न हो, इस श्रीमाण्डूक्य उपनिषद्की गौडोपादीय कारिकाके भाष्यमें पूज्यपाद श्री शङ्कराचार्यने निरूपण किया है—जिस प्रकार कोई पुरुष चित्तको, आत्मा स्वरूप समझता हुआ

चित्तके चलायमान होने पर, आत्माको चलायमान मानता हुआ, कदाचित् देहादि रूप आत्माको तत्वसे चलायमान मानता है कि 'मैं अब तत्वसे प्रच्युत हो गया हूं' और कदाचित् मनके समाहित होने पर आत्माको, तत्वीभूत और प्रसन्न मानता है कि 'मैं अब तत्वीभूत हूं' यानी स्वरूपमें स्थित हुआ हूं, इस प्रकार आत्मवेत्ता पुरुष न होवे। क्योंकि आत्मा अद्वितीय रूप है, उसका स्वरूपसे पतन होना असम्भव है, इसलिये सदा ही 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार अप्रच्युत होवे, अटल भाव रक्खे यानी तत्त्व स्वरूपसे सदा अपने आत्माको स्वरूप से अचल समझने वाला होवे यह तात्पर्य है।

सर्वदा काल अपने आपको अखण्ड अद्वितीय आत्मा समझे रहना ही ज्ञेय समाधी है। आत्मासे इतर कुछ नहीं है, इसलिये वह सदा व्युत्थानसे रहित है उसका व्युत्थान कभी नहीं हो सकता है। यदि आत्मामें कुछ व्युत्थान होवे तो व्युत्थान ही रहेगा, मोक्ष कभी नहीं हो सकता है (क्योंकि वह व्युत्थान आत्माके स्वरूपमें रहनेसे सत्य ही होगा) परन्तु आत्मा सदा एक रस अव्युत्थान स्वरूप है। इस अद्वितीय आत्माके अन्तर्गत ही व्यवहार बना रहे, विद्वानोंकी सदा अद्वितीय आत्म भाव रूप समाधी है और यही सदा श्री राम कृष्णादिकोंकी रही है। इसी ज्ञेय समाधीको सहजावस्था भी कहते हैं। इससे कभी व्युत्थान नहीं हो सकता है।

(१०) प्रश्न—हे भगवन् अविद्या क्या है, कृपा करके कहिये और उसकी निवृत्तिका उपाय भी कथन कीजिये।

उत्तर—शब्द मात्र ही मुखसे बोला जाता है और कानोंसे सुना

जाता है, फिर गाली, स्तुति क्या है ? स्पर्श मात्र ही त्वक्‌से ग्राह्य है, चाहे सर्प हो, अथवा स्त्री हो, तब फिर, एक बुरा दूसरा अच्छा क्यों माना जावे ? जिह्वा रस मात्रका ग्राहक है फिर मीठा कड़वा कैसा ? चक्षु, रूपका ही ग्राहक है, फिर वस्तु स्वरूपवान् तथा कुरूपवाली क्या दिखाई देती है ? घ्राण गन्धमात्रका ग्राहक है फिर दुर्गन्धी-सुगन्धी कैसी ? पृथ्वीसे इतर घट पट अन्नादिक पदार्थ क्या हैं ? जो ग्राह्य हो। बात यह है कि ग्रहण रूप अविद्याकी दृष्टिसे अविद्या अपने में आप बहु रूपसे मानी जा रही है, और विद्याकी दृष्टिसे केवल ब्रह्म ही अपनेमें आप विद्यमान है, उसीके सुखांशमें जो दुःखाध्यास है, सोई अविद्या रूप नाना भाव है। इसीको प्रकृति कहते हैं।

शङ्का—यदि प्रकृति कोई पृथक वस्तु हो तो भेदवाद सिद्ध होगा।

समाधान—यह बात नहीं है, और श्री वशिष्ठजीने कहा है —

'नात्मनः प्रकृतिर्भिन्ना, घटान्मृन्मयता यथा।
सन्मृन्मात्रं यथा चान्तरात्मैव प्रकृतिस्तथा ॥'

अर्थ यह है—आत्मासे प्रकृति भिन्न नहीं है, जैसे कि घटसे मृत्तिका रूपता भिन्न नहीं है। और जिस प्रकार सत् अर्थात् कार्यरूप घट मृत्तिका मात्र है, यह निर्णय है, इसी प्रकार प्रकृति आत्मा ही है (भिन्न नहीं है।)

'एतां दृष्टि मवष्टभ्य राघवाघ विनाशनीम्।
तिष्ठ निःसङ्ग संन्यास ब्रह्मार्पण मयात्मकः ॥'

अर्थ यह है—हे राघव, इस पाप-नाशिनी दृष्टिका आश्रय लेकर, अन्यका अभाव निश्चय रूप जो निःसङ्ग संन्यास है, जिसका

स्वरूप ब्रह्मार्पण मय है, उसमें स्थित हो। यानी अन्यके अभाव निश्चय पूर्वक निरन्तर कूटस्थ अद्वितीय स्वरूपसे स्थित हो यह भाव है। अविद्याकी निवृत्ति पूर्वक स्वरूप स्थितिका निरूपण श्री अष्टावक्र मुनिने इस प्रकार किया है :—

'हरी यद्युपदेष्टाते, हरिकमलजोऽपिवा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं, सर्व विस्मरणहृते॥'

अर्थ यह है—हर यानी महेश्वर यदि तेरा उपदेशकर्ता हो जावे अथवा विष्णु भगवान्, अथवा ब्रह्माजी, यदि उपदेष्टा हो जावें, तब भी सर्व विस्मरणसे विना, तेरी स्वरूपमें स्थिति रूपी विश्रांति नहीं होगी। भाव यह कि अविद्याको विस्मरण करना ही पड़ेगा। यह नहीं है कि अविद्या कुछ थी और विद्यासे निवृत्त हो गई, किन्तु अविद्या पूर्व भी निवृत्त ही थी, परन्तु मानली गई थी। पुनः विचार द्वारा अत्यन्त निवृत्तकी ही निवृत्ति निश्चय हुई। विद्यासे जन्य अविद्याकी निवृत्ति नहीं है किन्तु ज्ञाप्य है, उस अविद्याकी निवृत्तिका ज्ञान उत्पन्न हो आता है। अविद्या यदि कोई वस्तु हो तो मिथ्या कहनेसे निवृत्त नहीं हो सकती है, दो सत्य वस्तु, एक स्थानमें नहीं रह सकती हैं, अलग-अलग ही रहेंगी। यदि अविद्या कुछ हो तो ब्रह्म, ब्रह्म (व्यापक अनन्त अद्वैत) नहीं रह सकता है। (कुछ अविद्या रूप ही दूसरी वस्तु होगा) कारण यह है कि यदि दो वस्तु हों और उनमेंसे एक सत्य हो, और दूसरी मिथ्या हो, तो दोनों एकत्र रह सकती हैं, क्योंकि मिथ्या वस्तुको सत्य वस्तुसे भिन्न दूसरे किसी स्थानको रोकनेकी आवश्यकता नहीं है। इसमें यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार

एक ही रज्जु, भ्रमसे मिथ्या सर्प रूप माना जाता है, उसके लिये रज्जुसे इतर दूसरा स्थान नहीं है वह सर्प रज्जु ही हैं, इसी प्रकार ब्रह्म ही अविद्या तत्कार्य जगत रूप माना जा रहा है, परन्तु ज्ञानसे निश्चय होने पर कि अविद्या और उसका कार्य प्रपञ्च वस्तुतः कुछ था ही नहीं पीछे एक सत् अद्वितीय अखण्ड अनन्त ब्रह्म ही था और रहेगा, यही जाना जाता है। इस ब्रह्म ज्ञान रूपी विद्यासे इतर दूसरा कोई उपाय अविद्याकी निवृत्तिका नहीं है, यह निश्चय कर लेना चाहिये। ॐ

(११) प्रश्न—हे भगवन् 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अहमेवेदसर्वम्' नेति-नेति, इत्यादिक श्रुतिसम्मत अपरोक्ष ज्ञान होनेके पीछे, शास्त्र, उस विद्वान्को, जीवन्मुक्त, ब्रह्मण ,ब्राह्मनिष्ठ इत्यादिक नामोंसे कहते हैं, तथा श्री मद्भगवद्गीतामें श्री भगवान्ने, भगवद्भक्त स्थितप्रज्ञ और गुणातीत नामोंसे उस विद्वान्के लक्षण भी कथन किये हैं। वह सम्पूर्ण लक्षण, ब्रह्म-वेत्ताओंमें चरितार्थ होने योग्य हैं, ऐसा न हो तो ज्ञानकी क्या परीक्षा होगी ? परन्तु वे सब लक्षण नियमसे विद्वानोंमें दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, इसका क्या कारण है और ज्ञानीके वास्ते, काल क्षेपणके लिये क्या उपाय है, यह कृपा करके निरूपण कीजिये।

उत्तरः—ज्ञानी ऐसा होता है वैसा होता है, यह विचार अहंरूप ज्ञाता के विषयमें है, सो अल्प है। ज्ञाता दृष्टिको छोड़ कर, ज्ञेय विषय में विचारको पुष्ट करना चाहिये कि "सदसच्चाहं" "सर्वं खल्विदं ब्रह्मैव।" ज्ञानी जीवन्मुक्त होते हैं, विदेह मुक्त होते हैं, यह अन्य

लोगोंकी, अर्थवाद रूप कल्पनायें हैं। ज्ञानी अपने आपको सर्वात्मा नित्य मुक्त मानता है फिर विदेह-मुक्ति जीवन्मुक्ति इत्यादिक परि-छिन्न कल्पनाओंको, क्यों करेगा ? (यानी नहीं करेगा)। जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति तथा महा विक्षेपसे लेकर निर्विकल्प समाधी पर्यन्त, जो जो कुछ कल्पनायें हैं सब अविद्याके अन्तर्गत हैं, और जीव वाली दृष्टि से की गई है। जहां कहीं शास्त्रमें उपदेश मिलता है, अज्ञानीको आगे रखकर मिलता है। वहां अज्ञानियोंके नाना प्रकारके संशयोंका समाधान किसी न किसी रीतिसे किया गया है, और उन अज्ञानियों के प्रश्नोंके उत्तरमें, यानी अज्ञ जनोंने ज्ञानियोंके चरित्रमें जो शङ्कायें की हैं, उनके समाधानके लिये, प्रारब्ध भोग और जीवन्मुक्ति आदिक की कल्पनायें की गई हैं।

प्रवुद्धोंका यह निश्चय नहीं होता है कि मेरा प्रारब्ध है और मैं जीवन्मुक्त हूं, विदेह मुक्त हो जाऊंगा। उनके तो निश्चयमें, केवल अद्वितीय-अखण्ड ब्रह्म होता है कि "मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूं" इस निश्चयसे इतर कुछ नहीं होता है। यदि इस निश्चयके पीछे कुछ अन्य निश्चय भी होवे तो समझना चाहिये कि अविद्या तथा जीवत्व अभी शेष रहते हैं, उनकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हुई। उस ज्ञाताको अविद्या तथा जीवत्व की निवृत्तिके वास्ते, यही कर्त्तव्य है कि "मैं अखण्ड ब्रह्म हूं।" जितने काल पर्यन्त यह अन्य कल्पनाओंको करे, उतने कालमें यह ऐसा विचार क्यों न करता रहे कि "मैं अखण्ड ब्रह्म सर्वात्मा हूं, सर्व मैं ही हूं, एक परिपूर्ण अखण्ड सत्ता है नानात्व कुछ नहीं है।" इत्यादिक।

"परन्तु" "किन्तु" "ननु" "नच" इत्यादिक अन्य शङ्काको क्या अवकाश है, फिर असन्तोषका क्या कारण रह सकता है और क्या प्रष्टव्य अथवा कर्तव्य शेष रहता है ? श्री भगवद्गीता में, अधिकारियोंके प्रति नाना उपदेश हैं,परन्तु "सदसच्चाहं" इस मुख्य कथन रूप परम उपदेशको छोड़कर अन्यथा प्रकारके और-और उपदेशोंको, क्यों ग्रहण किया जावे, क्योंकि "जो कुछ है सब मैं हूं" बस इस निश्चयसे अधिक और क्या है, यानी कुछ भी नहीं है।

अविद्या यानी अहंता ममता रूपी जीवताको छोड़ कर "अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म ही यह सब मेरा स्वरूप है" यही निश्चय दृढ़ रखना चाहिये, ऐसा न होगा तो जैसी जैसी जीवन्मुक्ति विदेह-मुक्ति स्थित-प्रज्ञता आदिकों की यह मनुष्य कल्पना करेगा वैसे-वैसे ही उसको वर्तना पड़ेगा। इतने व्यर्थके परिश्रमसे क्या लाभ है। जैसा ब्रह्मका निश्चय है कि "मैं अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म नित्य मुक्त हूं" उसी ब्रह्म बुद्धिको दृढ़ रखना चाहिये कि "मैं नित्य मुक्त अद्वितीय अखण्ड हूं" यही यथार्थ निश्चय है, इसीमें विश्राँति है।

"सर्वं ब्रह्मेति बुद्धं चेत्, नाहं ब्रह्मेति धी कुतः।
अहं ब्रह्मेति बुद्धं चेत्, किमसन्तोष कारणम्।

अर्थ—यदि यह जान लिया कि सब ब्रह्म है तो मैं ब्रह्म नहीं हूं यह विपरीत निश्चय कैसे ठहर सकता है। और जब यह जान चुके कि "मैं ब्रह्म हूं" तब असन्तोषका कारण क्या रहा अर्थात् कुछ भी नहीं रहा।

काल क्षेपण आदि शङ्काको छोड़ो, क्या ब्रह्मके कोई काल है क्यों

व्यर्थ शास्त्रके बोझको ढोते हो ? "मैं ब्रह्म हूं" यह दृढ़ निश्चय क्यों नहीं रख सकते हो ? इत्योम् ।

(१२) प्रश्नः—क्या विद्वानको स्वरूपानन्द आविर्भावके निरन्तर रहनेके वास्ते व्यवहार को अल्प रखनेकी आवश्यकता है अथवा नहीं ?

उत्तरः—यदि यथावत् ज्ञान हो चुका है, जैसा होना चाहिये, तब अज्ञान तो रहा नहीं इसलिये चाहे व्यवहार भी हो परन्तु स्वरूपानुसंधान के विद्यमान रहनेसे स्वरूपानन्दका आविर्भाव यानी अनुभव भी बना रहता है और विक्षेप भी नहीं होता । चित्तकी तीन प्रकार की अवस्था होती है:—

(१) एक अज्ञान सहित विक्षेप है यह अज्ञानी के चित्तमें होती है सो अज्ञानीको व्यावहारिक विक्षेप बना ही रहता है:— ।

(२) दूसरा विक्षेप रहित अज्ञान है वह सुषुप्तिमें होता है वहाँ आनन्दका भान है, विक्षेप ही है, क्योंकि अज्ञान मात्र सुखका विरोधी नहीं होता है ।

(३) तीसरा अज्ञान रहित विक्षेप है, वह ज्ञानीको व्यवहार कालमें होता है, परन्तु साथमें स्वरूपानुसंधानके विद्यमान रहनेसे वह विक्षेप जाता रहता है ।

(१३) प्रश्नः—क्या व्यवहार कालमें भी, विक्षेपके रहते हुये, स्वरूपानुसंधान बना रहता है ?

उत्तरः—हां स्वरूपानुसंधान बना रहता है, परन्तु पञ्चदशीकारने विद्वान तीन प्रकारके कहे हैं:—

(१) एक समाधी-प्रधान ज्ञानी होता है उसमें "सिद्धो न पश्यति यतोऽधिगमत् स्वरूपं" अर्थात् ज्ञानी सिद्ध जीवन्मुक्त व्यवहारको नहीं देखता है, क्योंकि स्वरूपको प्राप्त है, इत्यादि शास्त्र चरितार्थ होता है।

(२) दूसरा विवेक-प्रधान ज्ञानी है, उसमें "मत्वा धीरो हर्ष शोको जहाति" यह शास्त्र चरितार्थ होता है—(यानी) धीर ज्ञानी, आत्माको जानकर हर्ष शोकको त्याग देता है यह श्रुतिका अर्थ है।

(३) तीसरा व्यवहारी ज्ञानी होता है:—उसकी अज्ञवत् पशुके सदृश विक्षेप युक्त अवस्था होती है, परन्तु वह स्वरूपके अनुसन्धान के सहित होती है।

ज्ञानी चाहे कोई भी हो, उसका निश्चय यही होता है कि "मैं नित्य मुक्त ब्रह्म हूं" श्री योग वशिष्ठमें बहुत ज्ञानी गृहस्थ ही कहे गये हैं, और सब ही जीवन्मुक्ति सहित विदेह मुक्त हुए हैं यह नहीं कि विदेह मुक्ति बिना जीवन्मुक्तिके हुई हो और उनका व्यवहार भी रहा सो ऐसे जनोंकी दृष्टिमें अद्वैत अखण्ड शुद्ध ब्रह्म उनका आत्मा ही केवल है, अविद्या कहीं है ही नहीं।

(१४) क्या "आसुप्ते रामृते कालं नयेद्वेदान्त चिन्तया" यह श्रुति ज्ञानी विद्वानके लिये मरण पर्यन्त वेदान्त-चिन्तनकी विधिको कथन कर ली है अथवा मुमुक्षुके लिये ? प्रथम पक्ष तो युक्त हो नहीं सकता, क्योंकि जो विद्वान ज्ञानी है सो विधि निषेधसे विर्निमुक्त कहा गया है, दूसरा पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि मुमुक्षु भी विद्वान ज्ञानी होनेवाला है, तब मरणान्त पर्यन्त वेदान्त चिन्तन की विधि कैसे हो सकती है, कृपा करके इस शङ्काका समाधान कीजिये।

उत्तर:—जैसे मुमुक्षुके प्रति "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजिवपेच्छतं समाः" अर्थात् इस जीवन कालमें कर्मोंको करते हुए शत वर्ष पर्यन्त-जीनेकी इच्छा करे ऐसी विधि है, ऐसे ही तत्व जिज्ञासुके प्रति जब तक ज्ञान न हो तब तक चाहे मरण पर्यन्त हो आत्म साक्षात्कारके वास्ते वेदान्तचिन्तन की यह विधि है कि "जब तक सुपुप्ति न हो और जब तक मरण न हो, कालको वेदान्त चिन्तन पूर्वक व्यतीत करे। ज्ञानीके लिये न कोई विधि है न उसको कुछ कर्तव्य है। जो अपने आपको ज्ञानी मानता हुआ अपने स्वरूपमें कर्तव्य देखता है, वह औरोंमें भी कर्तव्य देखता है। परन्तु जो अपने आपको अद्वि-तीय, अखण्ड ब्रह्म, अकर्ता, नित्य मुक्त मानता है, वह कहीं किसीमें भी कर्तव्य नहीं देखता है। इत्योम्

———

* हरिः ॐ तत् सत् श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः *

श्री मङ्गलोपदेश रसायन

पत्र मञ्जूषा।

---

(१) ॐ सन् ८-५-१६१८ ईस्वी

मेरे प्रिय, बाबू सीताराम जी! शुभाशीर्वाद के पश्चात् विदित हो कि आपका प्रेम पत्र आया, समाचार विदित हुआ यहां सर्व प्रकार आनन्द है, आप तो अपने आपको सदा आनन्द स्वरूप ही समझते होंगे, क्योंकि ऐसा समझना उसका फर्ज है, जिसने वेदान्त-

वाक्यको अपने कानोंका भूषण बनाया है । प्रायः लोग कुछ का कुछ समझ बैठते हैं, क्योंकि उनको इस बातका पता नहीं कि हमारे कानों का भूषण क्या है, और कहां तक वेदान्त वाक्यका हमको आदर करना चाहिये, खैर जो हो खुशी उनकी अपनेको तो उचित यही है कि सदा अपने आपको आनन्द स्वरूप ही समझें और माताजी प्रभृति को यथोचित कह देना और लाला चरणदास अब तक नहीं आया । भक्त गुरुदास दो घण्टेमें सत्ता सामान्यमें समा गया । ऐसा ही सबका अन्तिम समाचार होना है ।

आपका—

स्वामी मङ्गल नाथ हृषीकेश ।

(२) ॐ —— २३-५-१८

श्रीमन्.........

निवेदन है कि आपकी तरफसे केवल लिफाफेके ऊपर लिफाफा ही नहीं आ रहा है, लिफाफेके भीतर भी बराबर लिफाफा आ रहा है, शायद आप समझते हों, कि जो लिफाफे आपने रक्खे हैं वे इस काममें न आजायें, खैर जो समझें खुशी आपकी, यहां तो इन बातों के समझनेके लिये स्थान नहीं है, क्योंकि वस्तु अपने आपमें भरपूर निच्छिद्र है, इसमें सिवाय अपने आपके दूसरेकी गन्धको भी मिलना ख पुष्प है, परन्तु आपने लिफाफेके भीतर कोरा कागज़ भी डाल दिया, फिर भी स्याही कलमका खर्च तो आप अपने शिर कर्ज ही समझेंगे । बस यही समझ तरण-तारणमें उपर्युक्त है, अधिककी जरूरत ही क्या है ?

(३) ॐ ११-६-१८

श्रीमन्मेरे परम प्रिय..............................निवेदन है कि आपका सविस्तर प्रेम पत्र पढ़ कर अति हर्ष हुआ उत्तरमें देर लगी, इसमें कारण शरीरकी शोचनीय दशा ही है, आप माफ फरमायेंगे। शरीरादि अनात्म वर्ग अपने स्वभावमें स्थित है, और आत्मा भी अपने स्वभावमें अवस्थित है, सो आप जानते ही हैं, यह कोई अपूर्व बात नहीं है, क्योंकि यह वेदान्तकी प्रथम पुस्तका विषय है। आप के मतमें तो आत्मा ही अपने अज्ञानसे अनात्मा माना जाता है, फिर ज्ञानसे अज्ञान नष्ट हुआ तो बाकी अपना आप ही रहता है; कौन किसके आगे किसका आविष्कार करे ? सबको नारायण हरि कह देना। आपका—

(४) ॐ ६-७-१८

मेरे प्रिय..........................निवेदन है कि प्रेमपत्र आया, वृत्तान्त विदित हुआ अब बिलकुल शरीर ठीक है। आप इस शरीर की तरफ विशेष ध्यान न रक्खें, क्योंकि "अनस्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम्" (अर्थात् हे साधो मैं पुनस्मरणसे रहित विस्मरण को श्रेष्ठ मानता हूं, लेखक)।

"सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यंनास्त्येव सर्वदा" (अर्थात् सर्ग प्रथमसे ही उत्पन्न हुआ नहीं है; दृश्यका सर्वका ही अभाव है—लेखक)।

इत्यादि शास्त्रानुरोधसे सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, स्वात्म-मात्रैक शेषता ही श्रेयसी है, आगे आप सब कुछ जानते ही हैं।

नोट—एक पत्रमें इस लेखक सीतारामने पत्र द्वारा अपना भाव

प्रकट किया कि श्री माण्डूक्य उपनिषद्की गौडपादीय कारिकामें जो कहा है, कि "अद्वैते योजयेत् स्मृतिम्" यानी अद्वैतमें स्मृतिको नियुक्त करे सो मुमुक्षु वर्गके हितार्थ कहा है इस लिये सर्वथा ऐसा ही प्रयत्न लेखकको कर्तव्य है, उसके उत्तरमें लेखककी अकर्त्ता अत्मामें कर्तव्य आरोपकी जो असावधानता हो, उसके निवारणार्थ इस आगेके पत्रमें सावधान किया है। इसी पुस्तकको प्रश्नोत्तर-मालिकाके दूसरे तथा नवें प्रश्नके उत्तरको भी इसी विषयमें विचार लेना चाहिये।

(५) ॐ १८-१०-१८

श्रीमन् मेरे परम प्रिय, "अद्वैते योजयेत् स्मृतिम्" क्या आप का कुछ अद्वैतने बिगाड़ किया है ? भाई अद्वैतका विस्मरण ही पहिले क्यों किया ? और अनुभूति स्वरूप अद्वैतके विद्यमान होने पर स्मृतिको अवकाश ही नहीं है, पर क्या किया जावे, आपको तो अद्वैतमें स्मृति-शल्य ठोके बिना सन्तोष ही नहीं होता। मेरी समझ में नहीं आता कि जब एक दफे अनुभूति हो चुकी फिर स्मृतिका प्रयोजन ही क्या है, और अनुभूति तथा स्मृतिका समान काल, समान विषयक विरोध भी है। पर आपसे तो निष्क्रिय रहा ही नहीं जाता। क्या कोई अद्वैतके स्मरण करनेमें बड़ाई है ? फिर यह स्मृति कितने दिन हठर सकेगी ? हमें तो अद्वैतावस्थान ही अच्छा लगता है, आगे खुशी आपकी।

आपका—

मङ्गलनाथ देहरादून

——

(६) ॐ १-११-२८ हृषीकेश

श्रीमन् मेरे परम प्रिय, शुभाशीर्वादके पश्चात् सूचित किया जाता है कि कपड़ेकी कोई आवश्यकता तो नहीं थी, परन्तु आपके प्रेमका प्रवाह और उसका कार्य सर्वथा अनिवार्य है। वहुतसे मनुष्योंका सत्ता सामान्यमें समाना, कोई अयोग्य वा अपूर्व नहीं है, किन्तु योग्य और सनातन है, क्योंकि वे सत्ता सामान्यके विशेष रूप हैं। विशेषों की सिवाय सामान्यमें समानेके दूसरी गति नहीं है। केवल प्रसिद्ध ज्वरका नाम ही वदनाम हो रहा है, सो होता रहो, उसकी इच्छा। आप तो सामान्यके विशेष रूपको वाध कर अपने निःसामान्य विशेष रूपमें ही सन्तुष्ट रहें, और आनन्दकी अजीर्णताकी शान्तिके लिये विचार अवश्य करते रहें, इससे अधिक आपको क्या श्रम दिया जावे।

और माताजी आदिको यथायोग्य कह देना और समाचार अपनी राजी खुशीका लिखते रहें। लाला चरणदास भगवानपुर गया है, और पं० रामलोटनजी यहां राजी खुशी राममें ही लोट रहे हैं और सेठ लक्ष्मीनारायणजी वीमारोंकी खूब सेवा कर रहे हैं। यह सव सदा आपको याद कर रहे हैं सो करते रहें, उनकी इच्छा आप को क्या ? यह शरीर डेढ़ महीनेसे पैरमें जखम होनेके कारण खाटकी सेवा करता रहा है, अब आराम है, सो करता रहे, मुझको क्या ?

(७) ॐ १६-१२-१८

श्रीमन्.........ओ३म् आनन्द, मैं किसी कार्य वश लाहौर गया था, आपकी पहली चिट्ठी लाहौर होकर कल मुझको यहीं मिली,

आज मैं उसका उत्तर लिखनेकी तैयारी करता ही था फिर आपकी दूसरी चिट्ठी आज पहुंची, चिट्ठी पर चिट्ठी पढ़ कर आनन्द हुआ, पर पैरके जख़मकी कुछ न कुछ शिकायत बनी ही रहती है। आपके आनन्दसे ही आनन्द है। आप वाशिष्टके विचारसे अपना दिल बहलाते हैं सो ठीक है। मनकी निरावलम्बता भी सालम्बता ही है। आत्मा इन दोनों विकल्पोंसे अतीत है, सो होवे, खुशी इसकी। आपके लिये तो सहजावस्था ही ठीक और पथ्य है ज्यादा क्या लिखें।

श्रीमन् परम प्रिय, निवेदन है कि पत्र आपका आया वृत्त ज्ञात हुआ। आपकी भेजी हुई गन्धकका सेवन डेढ़ सप्ताहसे हो रहा है। पैरमें बिलकुल आराम हो गया है, परन्तु जिस जगह जख़म था, वहां अब तक त्वचा नहीं आई हैं और कुछ कारडाई (कठिनता) भी नहीं हुई, आशा है कि शनैः शनैः सब कुछ ठीक हो जायगा।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भय क्रोधः स्थित धीर्मुनिरुच्यते ॥"

(अर्थ ऊपरके इस श्लोकका यह है—दुःखोंमें क्षोभ रहित मन वाला, सुखोंमें स्पृहा रहित। राग भय और क्रोधसे रहित, मननशील मुनि स्थित प्रज्ञ कहलाता है– लेखक।)

——

(६) ॐ ३-५-१६ हृषीकेश

श्रीमन् मेरे परम प्रिय !

पत्र आपका मिला, हाल मालूम हुआ, मैं लखनऊ गया था, अब कुछ-कुछ उत्तराखण्डकी यात्रा करनेका विचार है, आगे दाना पानी और

आज कल पञ्चदशीका विचार हो रहा है, यहां सर्व प्रकारसे आनन्द है। परन्तु जहां-तहां वायुका परिवर्त्तन बड़े जोर-शोरसे हो रहा है। अस्तु,

"कल्पान्ता पवनावान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः।
तपन्तु द्वादशादित्याः न स्यान्निर्मनसः क्षतिः ॥"

नोट—(इस श्लोकका यह अर्थ है—कल्प प्रलयके पवन चलें, समुद्र (बढ़ कर) परस्पर मिल कर एक हो जावें, द्वादश सूर्य मिल कर तपने लगें, तब भी मानो नाश वाले पुरुषकी कुछ हानि नहीं होती है—लेखक)

(१०) ॐ १८-५-१९ हृषीकेश

मेरे प्रिय..........अब लाला चरणदास उत्तर काशीको गया है, और हमारे यहां पञ्चदशीका विचार हो रहा है, आपके भी परमानन्दोद्गारका परामर्श हो रहा होगा। इधर उधरसे वायु बड़ी तेज चल रही है, चलो इसके भी दिन हैं, (लाहौर मार्शल्लाकी बात है) वाह्य-क्रियामें शायद कहीं कुछ बाधा पहुंचती भी हो, परन्तु अन्तरात्माऽनुसन्धानमें तो कुछ बाधाकी आशङ्का नहीं है क्योंकि "नासीदस्ति भविष्यति" यह निश्चय वर्तमान है। माताजी आदिको यथा योग्य कह देना। भवदीय मङ्गलनाथ

(११) ॐ २-७-१९ हृषीकेश

श्रीमन् मेरे परम प्रिय !

निवेदन है कि आपका वह एक प्रेम पत्र और दूसरा एक यह प्रेम पत्र आये, पढ़ कर आनन्द हुआ। वायु, आकाश और शरीर आत्माका दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव अच्छा है।

आज कल श्री भरत मन्दिरके सम्बन्धमें कुछ राजीनामेकी बात चीत हो रही है, इसलिये फुरसत कम मिलती है, उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ, क्षमा करना। पंचदशीका आज ध्यान दीप समाप्त हो गया है। अन्याभावादसङ्गता।

नोट—(अर्थ यह है कि असङ्गता इसलिये है कि अन्यका अभाव है, यह नहीं कि दूसरा भी कोई है, और उससे असङ्गता है, लेखक)

सीतारामका एक पत्र श्री महाराजकी सेवामें इस प्रकार है....

कांधला २८-७-१६

सिद्धि श्री सच्चिदानन्द स्वरूप परम पूज्य श्री १०८ स्वामीजी महाराजके चरण कमलोंमें दास सीताराम तथा माता आदिकोंकी साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम ॐनमो नारायणाय स्वीकार होवे। आगे प्रार्थना है कि यहां आनन्द मंगल है आशा है कि आपका शरीर स्वस्थ होगा।

हे भगवन्‌जी, श्रीयोगवासिष्ठ स्थिति प्रकरणके ३५ वें सर्गमें यह श्लोक है :—

"विषमा विषया भोगाः प्रविचार्य पुनः पुनः।
उपरिष्टात्परित्यज्य सेव्यमानाः सुखावहाः॥"

इस श्लोकमें 'उपरिष्टात्परित्यज्य सेव्यमानाः' इस पंक्तिका व्यवहारमें आने वाला भावार्थ क्या है? सो कृपा करके लिख दीजिये तथा पूर्वार्ध निर्वाण प्रकरणमें ५६ सर्गमें लिखा है —

"योऽन्त; प्ररूढः स्वभ्यासो ज्ञत्वशब्देन स स्मृतः।
यो न भुंक्ते भुज्यमाननपि भोगान्स बुद्धिमान्॥"

इस श्लोकमें भुज्यमानं भोग क्या है ? क्या निर्वाहसे अधिक विशेष संग्रहके निषेधमें तात्पर्य है अथवा कुछ अन्य है। अन्त: मरूढ़ स्वभ्यास तो यह है कि इदन्ताके बाध पूर्वक अद्वितीय ब्रह्म भिन्न साक्षी भावमें सावधानता। तब हेयोपादेयता क्या शेष रह गई है कृपा दृष्टि करके समाधानार्थ शब्द लिख दीजिये।—आपका दास सीताराम

पूर्वोक्तका उत्तर यह है—

(१२) श्रीमन्.......ओ३म् २-६-१६ हृषीकेश

कुछ कार्यवश आपके २८ जुलाईके पत्रका भी उत्तर न दे सका, क्षमा कीजियेगा। (स्थिति प्रकरण २८ सर्गमें) अब लीजिये 'उपरिष्टा-त्परित्यज्य सेव्यमानाः' इस पंक्तिका भावार्थ :—

भोगोंमें दो अंश हैं, एक रमणीय, दूसरा अरमणीय, अरमणियता स्वभाव सिद्ध है और रमणीयता अविद्या प्रत्युपस्थापित है अर्थात् अरमणीयता अंश रूप अधिष्ठानको आवर कर (आच्छादित करके) उसके स्थानमें अविद्या रमणीयता अंशको उपस्थित करती है, इन दोनोंमें (अरमणीयता अंश) अधिष्ठानांश अन्तर है और (रमणी-यतांश) अध्यस्तांश, बाह्य (उपरिष्ठ) है अर्थात् रमणीयता अंशको बाध्य कर अरमणीयता (सेव्यमाना) अनुभूयमान भोग सुख तृप्ति-का कारण है। तथा पूर्व निर्वाणप्रकरण ५६ सर्गमें 'यो न भुंक्ते भुज्य-मानपि भोगान् स बुद्धिमान्' इसका अर्थ यह है—जो पुरुष अरमणी-यतया अनुभूयमान भोगोंको भी रमणीतया नहीं अनुभव करता है, वह बुद्धिमान (ज्ञानी) है।

आज-कल शरीर भी जर्जरीभूत हो रहा है, खुशी उसकी। श्री-भरत मन्दिरकी जाँचके लिये कमीशन अपनी कार्यवाहीका आरम्भ करने वाला है, देखें क्या परिणाम निकलता है।

'ब्रह्माहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्र बांधवाः'। 'ब्रह्मैव जगदाकारं ब्रह्मैव भुवन त्रयम्'। 'इदं सर्वं यदयमात्मा'। 'ब्रह्मैवेदं सर्वं। ॐ

कमीशनके बारेमें जो श्री स्वामीजीने उपरोक्त पत्रमें इस सेवक-को लिखा था, उसके उत्तरमें इसने एक पत्रमें यह कविता भी लिखी थी, जिसकी स्वीकृति श्री महाराज आगेके पत्रमें देते हैं। वह कविता यह थी,—

बात सुनी यह अतिशय भीषन * निर्णय करने लगा कमीशन।
पहने कोट तथा पतलून * बैल न कूदे कूदे गून॥
कही लिखी कुछ सुनी सुनाई * उछल कूद कर रोटी खाई।
हा-हा ही-ही निकसत दन्त * होत कमीशनका यूं अन्त॥

---

(१३) ॐ १०-६-१६ हृषीकेश

श्रीमन्······आपका प्रेम पत्र आया पढ़ कर सन्तोष हुआ, यहां सर्व प्रकार आनन्द है। कमीशनके विषयकी कविता यथार्थ है, परन्तु 'आशा वलवती राजन शल्यो जयति पाण्डवान्' की न्याईं यह व्यवस्था है। आप फरमाते हैं कि 'चरणोंके विषय रहनेको चित्त चाहता है। इससे यह साबित होता है कि आपने चरणको किसी एक देशमें समझा है। यह कसूर माफी मांगने काबिल है।

---

(१४) ॐ १७-६-१६ हृषीकेश

श्रीमन्‌……आपका प्रेम पत्र मिला, पर पढ़ कर चित्तको तसल्ली न हुई क्योंकि यह न्याय नहीं है जो 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे' खैर 'हार मानी झगड़ा जीता' मेरे लिये भी तो अपने सेवकोंके साथ जिद करना योग्य नहीं है, चाहे सदुपदेश भी दुरुपयोगमें क्यों न आवे। परन्तु स्मरण रहे कि चरण चाहे एकदेशी भी हों, पर उस विषय रहनेकी इच्छा वाला अपनी व्यापकता भूल वैठा है। यह अपराध तो क्षमा मांगने पर भी अक्षम्य है। अन्ततो गत्वा 'देहदृष्ट्या तु दासोऽस्मि' इस प्रथाके अनुसार देह दृष्टिका ही विजय हुआ।

पर ऐसा होना उचित नहीं था, उचित तो यही था 'अहमेवा-धस्ता दहमुपरिष्टात्' इत्यादि अभिनयानुसार, आत्म दृष्टिका ही विजय और अनात्मदृष्टिका पराजय। पर किया क्या जावे, सवेरेका भूला यदि शामको भी घरमें आ जाय तो भी, उसका कुछ बन सकता है। पर शामको भी घरमें वह न आवे तो आप ही बतलाइये कि उसके घर वाले निराश होंगे या नहीं, भाई जो पूर्वको पश्चिम समझ कर चल दिया वह जब तक अपने आपको भूला न समझेगा तब तक वापिस लौट कर घरमें न आवेगा, प्रत्युत लौटाने वालेकी भूल समझ कर, अपने दो पैर आगे ही रक्खेगा और श्रुति स्मृति पढ़ता जायगा।

आश्चर्य यह है कि जो श्रुति वा स्मृति, इसके घरका इशारा करती है, उसके सहारे वह बाहर भागा जाता है। ऐसी दशामें सदु-पदेश भी दुरुपयोगमें आ सकता है, पर आवे खुशी उसकी। तुम्हें और हमें इससे क्या प्रयोजन है, सारांश यह है कि जो आपकी

चरणोंसें रहनेकी इच्छा हुई है, उसकी निवृत्तिका उपाय सिवाय अपनी व्यापकता समझनेके दूसरा कोई नहीं। यदि यह व्यापकता पहले ही समझ ली होती, तो ऐसी इच्छा ही पैदा न होती। आशा है कि अव तो आपने अपनी भूल समझ कर अपने घरमें लौटनेका आरम्भ किया होगा। और जो आपने अपनी पिछली चिट्ठीमें यह उपसंहार किया कि 'आपका शरीर अव कैसा है' इसमें यह कहना है कि राई घटे न तिल बढ़े, जैसा शास्त्र कहता है वैसा ही है, आगे आप सव कुछ जानते ही हैं, क्योंकि एक विज्ञानसे सर्व विज्ञान वेदान्त शास्त्र सम्मत ही है, अधिक क्या लिखें।

---

(१५) ॐ ३०-६-१६ हृषीकेश

श्रीमन् मेरे प्रिय........आपका स्वर वदला हुआ देख कर अनुमान होता है कि कुछ तो मेरा सदुपदेश भी सफल हुआ। आप जैसे सत्पात्रोंमें, सदुपदेशका सफल होना, कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। किन्तु ऐसा होना यह सर्वथा आपके अनुरूप ही है। मालूम होता है कि आपने अपनेको एक अद्वितीय ब्रह्म समझ लिया, जिसके न समझनेसे, आत्मा ही अनात्मादि शब्दों करि व्यवहृत होता है अन्यथा ऐसी कविता न रचते, इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म ज्ञान का हजम होना बड़ा ही कठिन है, दूसरा निकलनेका द्वार नहीं मिलता तो वह कविता द्वारा ही वह चलता है सो वहता रहो खुशी उसकी। चिदाकाश ज्यूं का त्यूं ही है। परन्तु यदि चिदाकाशका ज्ञान चिदाकाशमें न समाया, किन्तु कविता द्वारा बाहर वह चला, तो

वह ज्ञान कौन कामका ? दैव वश, यदि कविताका निरोध हो जाय, तो वह ज्ञाताको पेट फाड़ कर कुछका कुछ बना देगी। अथवा कुछ भी कौन हो चिदाकाशमें अचिदाकाश तो न हुआ, न है और न होगा, यही अस्मदादि सिद्धान्त है।

१५ अक्तूबर १६ को ८ बजे चरणदासके मकान हृषीकेशमें, श्री-भरत मन्दिरकी जांचके लिये कमीशनका प्रथमाधिवेशन होगा। आशा है कि लोग दूर-दूरसे आवेंगे। और सबको नारायण हरि कह देना। अधिक क्या लिखें। आपको यहां लोग बहुत याद करते हैं, परन्तु करते रहें, खुशी उनकी, आपको तो अपने आनन्दसे काम।

---

(१६) ॐ २८-१०-१६ हृषीकेश

आपके प्रेम पत्र दो आये वृत्त ज्ञात हुआ। उत्तरमें बिलम्बका कारण कमीशन की कार्यवाही हुई आप क्षमा करेंगे।

जो कुछ आप फरमाते हैं वह सब अद्वैत रूप ही है। इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि अधिष्ठान सत्तासे अतिरिक्त अध्यस्त सत्ता नहीं है परन्तु इसमें मेरा कहना केवल इतना ही है कि अध्यास बिना अज्ञानके नहीं होता। अब आप स्वयं विचार सकते हैं कि कितना व्यवहार सम्यक् ज्ञान प्रयुक्त है। मेरी रायमें ज्ञानाज्ञान रूप सब व्यवहार अज्ञान रूप ही है। इस वास्ते आपसे यह मेरा पूछना अनुचित न होगा कि अज्ञान निवृत्त हुआ या नहीं। अब इस प्रश्नकी कोई आवश्यकता नहीं है कि 'अज्ञान प्रथम था या नहीं'। ज्ञानके प्रयोजनके लगभग ही स्मृतिका प्रयोजन है। इस प्रकार विचारसे

अद्वैतमें स्मृतिकी आवश्यकता और अनावश्यकता स्वतः ही स्फुरण होती है। बुद्धिमानके लिये इतना ही लिखना पर्याप्त है अधिक लिखना बुद्धिमत्ताके वर्हिभूत है। उचित समझ कर लिख दिया है आगे 'मान चाहे न मान मैं तेरा महिमान' की कहावत मौजूद ही है। आपका मङ्गलनाथ।

---

(१७) ओं १२-५-२० हृषीकेश

श्रीमन् मेरे प्रिय⋯बहुत दिनों बाद खतोकितावत शुरू हुई। आपकी चिट्ठीसे मालूम होता है कि आपने कई प्रेम पत्र भेजे हैं परन्तु मैं इस साल यहां कम रहा, और भक्तसे पूछा भी पर पता कुछ नहीं चलता। कल मैं लखनऊसे यहां आया हूं अब अमावस्याके बाद उत्तर काशी जानेका सङ्कल्प है। जो कुछ अविद्या दृष्टिसे कहा जाता है वह इस "सदसच्चाहर्जुन" विद्या दृष्टिसे अलीक समझा जाता है क्योंकि उक्त श्री कृष्णके ज्ञानका विषय श्रीकृष्ण से अतिरिक्त नहीं है। अतएव "त्व मह मिदं च सर्वं कृष्ण एव"

---

(१८) ओं १८-५-२० हृषीकेश

श्रीमन् मेरे प्रिय⋯⋯⋯लाला चरणदास अपने ग्रामसे कल यहां आया है उसका परसों मेरे साथ ही उत्तर काशी जानेका विचार है। यदि आपकी मर्जी हो तो अब की बार गोदावरी स्नान का बड़ा भारी महात्म्य है। मैं उत्तर काशीसे होकर चला आऊं। वह स्नान २१ जुलाईसे शुरू होगा, इस साल उसका कुम्भ है। उस

दिनसे सिंह राशिपर गुरु जी विराजमान होंगे, इसलिये किसी दूसरे तीर्थकी यात्रा फिर १३ मास तक बन्द रहेगी। यदि, "एकैव दृष्टिः प्रधानः वर्तते" तब तो उससे भी निर्वाह अच्छा हो सकता है, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण तीर्थोंका निवास है फिर "अक्वे चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" यह न्याय भी सार्थक होगा और "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते" यह भी है। यदि ज्ञान दृष्टि पुरःसर, गोदावरी स्नान हो, तो भी कुछ क्षति नहीं है, आगे आप सर्व प्रकार बुद्धिमान हैं पता उत्तर काशी रियासत टिहरी।

---

(१६) ॐ २८-११-२० हृषीकेश

श्रीमन् बाबू सीताराम जी-जय सच्चिदानन्द। प्रेम पत्र मिला, पढ़कर आनन्द हुआ मङ्गलनाथ यहां आ गया है, परन्तु आप इस बातको न मानेंगे क्योंकि आपके मतमें आना जाना खपुष्प है, फिर भी उसकी तरफसे शुभाशीर्वादका तो स्वीकार आप अवश्य ही करेंगे, क्योंकि उसमें आपका प्रेम है। उसके यहां कुछ काल ठहरनेके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता; क्योंकि वर्तमानातिरिक्त विषयमें मेरी प्रज्ञाका प्रचार नहीं होता है। मैंने आपके सविनय साष्टांग प्रणामको उसके चरणोंमें रक्खा था, परन्तु उसने उसको हाथमें उठाकर अपने शिर पर रख लिया, इससे मालूम होता है कि आज कल उसका होश हवास ठीक नहीं है, क्योंकि चरणोंकी चीजको शिरपर रखना यह बुद्धिके विरुद्ध है। बुद्धिमानोंकी बुद्धि तो यही है कि यथायोग्य व्यवहार करना और अपने स्वरूपमें सदा असंभ्रांत रहना। आगे

आप भी तो बुद्धिमान हैं, योग्या-योग्यके विषयमें खूब विचार कर देखें कि बुद्धिमानोंको क्या करना चाहिये योग्य आज्ञासे अनुगृहीत करते रहें। आपका भक्त लोरिन्दचन्द,

(नोट—यह पत्र स्वयं श्री महाराजने भक्त लोरिन्दचन्द की ओरसे विनोद पूर्वक लिखा था)।

---

(२०) ॐ १०-५-२१ हृषीकेश

श्रीमन्मेरे परम प्रिय,…………आनन्द स्मरण। आपके प्रेम पत्रकी प्रतीक्षा हो रही थी, परन्तु आपका प्रेम पत्र देखकर वह शान्त हो गई। आपका अनुभव अच्छा है और होना भी ऐसा ही चाहिये-, क्योंकि जिस अनुभवका कोई आश्रय और विषय नहीं होता है, वह बेचारा आनन्दसे अभिन्न ही है, और आप भी शायद आनन्दमें ही राजी हैं। प्रायः लोग अपने आपको आनन्द रूप समझ कर आनन्द में राजी नहीं रहते, यह केवल अद्वैतवादका सिद्धान्त है। परन्तु जब आप आनन्दमें ही राजी हैं, तो फिर किसीके सिद्धान्तसे आपको क्या प्रयोजन है। क्योंकि सब प्राणी आनन्दमें ही राजी हैं और दुःखमें नाराज हैं (इसलिये) यह भेदवादका डंका है। यदि इससे भी आप डरते हैं, तो फिर आनन्द ही आनन्द। क्योंकि "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" श्रौतोपदेश तो सर्वथा श्रद्धेय है। अबके हमें गोरक्षाके उद्देश्यसे, पंजाबमें जाना होगा, क्योंकि यह हिन्दू सभाका आदेश है।

---

(२१) ॐ ११-७-२१ हृषीकेश

श्रीमन्..................आपका प्रेम पत्र आया पढ़कर अति हर्ष हुआ उत्तर देनेमें विलम्बके कारण माफी मांगता हूं अथवा किस अपराधके कारण कौन माफी मांगे, यदि कहा जाय कि निर्विकल्प स्वरूपमें ऐसी कल्पना ही अपराध है तो कल्पनाका कारण अज्ञान है और अज्ञानकी निवृत्ति तो ज्ञानसे ही होगी, माफी मांगना फिर भी व्यर्थ है, अतएव माफी की माफी मांगना ही उचित है माफी कदापि उचित नहीं है, जो लोग माफी मांगना उचित समझते हैं, वे निःसन्देह अपनेसे अतिरिक्त दूसरा कुछ समझते हैं। अतएव उनके मतमें माफीका मांगना एक शिष्टाचारवत् प्रचलित प्रथा मात्र है। और जिसके मतमें, अपनेसे अतिरिक्त द्वितीयका दर्शन ही खपुष्प है, उसके मतमें माफीका मांगना ऐसा है कि जैसे जागता पुरुष आंख मीच कर घुर्राटा मारे और यदि मुझसे पूछें तो मेरी ओरसे उत्तर है-चुप।

———

(२२) ॐ १६—७—२१ हृषीकेश

श्रीमन्......आपके प्रेम पत्रके साथ पारसल मिला। उसके उपलक्ष्यमें आपको धन्यवाद क्यों न दिया जाय। यद्यपि आपको धन्यवाद की इच्छा तो क्यों होगी, परन्तु विना इच्छाके भी देने लेनेका व्यवहार बना ही रहता है, सो बना ही रहे उससे आपको क्या ? अब के यहां माताजी आ रही हैं आपकी तो कोई यहाँ आने की आवश्यकता भी नहीं और न आनेको अवकाश भी है, क्योंकि परिपूर्णमें आना जाना असम्भव ही हो रहा है।

(२३) ॐ १६—२—२२ हृषीकेश

श्रीमन्मेरे प्रिय……आज कल सहयोग और असहयोगकी खूब वायु भड़क रही है इसके वेगमें आकर आप अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त एक अद्वैत सच्चिदानन्द स्वरूपमें कोई असाध्य या कष्ट साध्य सङ्कल्प न कर बैठें, क्योंकि आत्मा परमेश्वर और सत् सङ्कल्प है, जैसा सङ्कल्प करता है वैसा ही उसको अनुभव करना पड़ता है, आगे इसकी खुशी।

मेरी रायमें अपने आपमें विश्राम पाना कोई बुरी बात नहीं है और सिवाय विश्रामके दूसरी गति भी नहीं है। भला बतलाइये कि यदि यही, विश्राम न पावे तो क्या करेगा, आकाश तो अनाकाश होनेसे ही रहा। आत्माके बाहर और भीतर कहीं अनात्मा नहीं है, किन्तु आत्मा ही अपने आपको अनात्म मानकर अविद्याका सद्भाव प्रकटता है। और अपने आपको आत्मा मान कर विद्याके सद्भावको प्रकट करता है वास्तवमें अविद्या और विद्या कोई चीज नहीं है, यदि आत्मा अपने आपको अनात्मा न माने तो फिर इसको क्या आवश्यकता है जो यह अपने आपको आत्मा माने और विद्वान कहावे। ऐसी दशामें अपने आपमें सन्तोष करना ठीक मालूम देता है। आगे आपकी खुशी, सबको यथायोग्य कह देना।

---

(२४) ॐ ४-४-२२ लखनऊ

श्रीमन्……जय सच्चिदानन्द। पत्रका उत्तर लिखनेमें देर हुई क्षमा हो। "अहमेवेदं सर्वं न मत्तो न्यत्किञ्चित्" "ब्रह्मैवाहं" जब

इस प्रकार समझ कर अपनेसे अतिरिक्त भावसे निराश होता है तव अपने स्वरूपमें प्रबुद्ध होता है तो अपने आपको नित्य मुक्त देखता है। जव शुक्तिसे अन्यत्र रजत देखता है तव ही शुक्तिमें रजताध्यास को अवकाश मिलता है, जव आत्मासे अन्यत्र अनात्मा देखा ही नहीं तो वतलाओ आत्मामें अनात्माका अध्यास ही कैसे हो सकता है फिर उसकी निवृत्तिके लिये क्या ज्ञान सार्थक हो सकता है, इसलिये सच कहा है कि ज्ञान अज्ञान एक फर्जी वात है, वास्तवमें अपना आप है, जव सव ब्रह्म है, तो अपने आपको ब्रह्म समझनेका सवको हक है। कहीं ब्रह्म ही अपने आपको ब्रह्म समझनेमें चकित होता है। यह केवल मोह महाराज की महिमा है। वास्तवमें "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" यह नियम अचल है। आपका एक ब्रह्म।

---

(२५) ॐ २२-४-२२ लखनऊ

श्रीमन्मेरे परम प्रिय......वस हम अधिक नहीं समझ सकते केवल इतना ही समझते हैं कि ईश्वर की ओरसे उपनिषद् द्वारा वारम्वार आवाज आ रही है "सर्वं ब्रह्मेति" "नेति नेति" वस यही सिद्धान्त समझकर अपने आपमें विश्राम करना ही उचित था परन्तु लोग इस मर्मको नहीं समझते और चिट्ठी पत्रका व्यवहार जारी रखते हैं। देखो कितनी वड़ी भारी वहिर्मुखता है। इस वहिर्मुखताको सरकार भी अच्छा नहीं समझती परन्तु इसको रोकना चाहती है, पर क्या किया जाय लोग अपनी आदतसे मजबूर हैं। अन्तमें सरकारको ही लाचार होकर कार्ड और लिफाफों पर दूना महसूल

लगाना पड़ा इससे झखमार कर अपनी बुरी आदतसे बाज आवेंगे। बस पहले समझे सो बुद्धिमान। आप अपने दोस्त मित्रोंको खूब समझा दें कि विना अत्यावश्यकताके कोई किसीको पत्र न लिखे अन्यथा इस वहिर्मुखताको रोकनेके लिये सरकारको चौगुना पचगुना महसूल लगाना पड़ेगा फिर क्या करेंगे। बस पहले ही अपने सिद्धान्त को समझकर उसमें विश्राम करना उचित है, अन्यथा हम यहां दस्तखत नहीं करेंगे।

———

(२६) ॐ २३—७—२२ हृषीकेश

श्रीमान्.........यहां सब प्रकार आनन्द है, आप तो अपने आपको सदा आनन्द रूप ही समझते होंगे, क्योंकि विना ऐसा समझनेके दूसरी समझ नहीं कहला सकती। जब आपने ऐसा समझ ही लिया कि "मैं सदा आनन्द स्वरूप हूं" तब तो आप निःसन्देह आपसकी खतोकितावत वन्द ही करेंगे, क्योंकि आनन्द स्वरूपके इच्छा नहीं होती और बिना इच्छाके कुछ बनता ही नहीं दीखता। और सम्भव है शायद आपने अपनेको आनन्द स्वरूप समझ कर अद्वितीय भी समझ ही लिया होगा वस ऐसा समझनेसे तो सब कुछ समाधान हुआ फिर खतोकितावतकी आशा ही क्या है। यदि प्राचीन वासनाके वेगसे, कुछ कर्तव्य उपस्थित होगा तो निःसन्देह आप उसको भी सत्याग्रह करके निवृत्त करेंगे, क्योंकि सत्याग्रहको आज कल व्यवहारमें भी लोग काममें लाते हैं, क्या परमार्थमें उसका उप-योग करना, आप जैसे भद्र पुरुषोंके लिये अनुचित है, मेरी समझमें

तो प्राचीन वासना वेगको सत्याग्रह करके निवृत्त करना सत्पुरुषोंके कर्तव्यसे वाहर नहीं है। शायद आपने यह समझा होगा कि सत्य ब्रह्म सत्याग्रहके अभावसे असत्य न होगा, ठीक है, परन्तु सत्याग्रहके अभावसे असत्याग्रह अवश्य प्राप्त होगा, उनकी निवृत्ति विना सत्याग्रहके कदापि न होगी। अव सिद्धान्त सुनिये कि विद्वान्को सर्वथा सन्तोष है, इसका संग्रह यह है कि :—

"सर्वं ब्रह्मेति सत्यं चेन्नाहं ब्रह्मेति धी कुतः।
अहं ब्रह्मेति वुद्धं चेत् किमसन्तोष कारणम्।"

वस इसका अभिप्राय समझनेसे फिर अज्ञानको जगह नहीं है।

आपका प्रिय वावू सीताराम

नोट :—(यह विनोदके कारण श्री महाराजने अपने वदलेमें अपने सेवककी ओरसे हस्ताक्षर कर दिये हैं।)

---

(२७) ॐ २७—८—२२ हृषीकेश

श्रीमन्……आपने यह तो निश्चय कर ही लिया होगा, कि "मैं आत्मा हूं और एक ही हूं, उससे अतिरिक्त न अविद्या है और न उसकी निवृत्ति है।" वस इस निश्चयसे ही इस निश्चयका अभाव सिद्ध है क्योंकि जव अविद्या और उसकी निवृत्ति नहीं है तव तो आप उक्त निश्चयका हेतु और फल कदापि नहीं निवृत्त कर सकेंगे फिर तुम्हें चुप रहना ही पड़ेगा। हमने तो भाई सव निश्चयोंका हेतु अविद्या और फल उसकी निवृत्ति सुना है, अव तो तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि निश्चय और उसका हेतु स्वरूप कार्य भी नहीं है यह आप

आपमें बड़ी मुश्किल पड़ी। यदि आप ऐसा न मानते, और विना ही निश्चयके अपने आपमें विश्रान्त रहते तो आज आपको इस मुश्किल का मुकाबिला यानी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता खैर अब भी कुछ नहीं बिगड़ा "सबेरेका भूला शामको अपने घरमें आ जाय तो वह भूला नहीं कहलाता" आपको इन निश्चयोंसे क्या मतलब।

———

(२८) ॐ ११-१०-२२ लखनऊ

श्रीमन्......अब मुझे पता लगा है कि आप इस बातको खूब समझ कर बैठ गये हैं कि मैं ही एक वस्तु हूं सिवाय मेरे दूसरे कोई वस्तु वा अवस्तु नहीं है और मैं केवल नित्य मुक्त हूं और सच्चिदा-नन्द के नामसे प्रसिद्ध हूं तथा न मुझे कोई देखता है और न मैं किसी को देखता हूं, क्योंकि मुझसे अतिरिक्त दीखने और देखने वालेका अत्यान्ताभाव है सो भी मेरा स्वरूप ही है। यदि ठीक सचमुच ही आपने समझ लिया है तो आप बेशक समझ लीजिये परन्तु आपक ी इस समझसे उसको क्या फायदा है जो समझ कर बेसमझीसे अलग बैठा है यदि आपका भी उसके साथ दोस्ताना है तो आप भी समझ और बेसमझीसे अलग हो बैठिये, नहीं तो खतोकितावत बन्द कीजिये। ऐसे खतोकितावतकी कोई आवश्यकता नहीं है जिसका समझ और बेसमझीके साथ कुछ भी सम्बन्ध पाया जाय और साफ कागज पर स्याही लगा कर उसका मुंह काला किया जाय।

हमें तो साफ कागज पर भाई सियाहीका दाग अच्छा नहीं लगता आगे आपकी खुशी। यदि कोई राजी खुशी का समाचार

लिखना हो तो हम किसीको मना तो नहीं करते हैं। सबको यथो-
चित कह देना। आपका और दूसरेका मैं कुछ नहीं जानता।

· सिर्फ मङ्गलनाथ

(इस पूर्वोक्त पत्रका यह उत्तर दिया गया पाठक पसन्द करेंगे)

मुझसे अब कुछ लिखा नहीं जाता * बेलिखे भी रहा नहीं जाता।
बेसमझ और समझका साक्षी हूं * दूसरा कुछ सहा नहीं जाता॥
आपसे आप ही जो केवल हो * दोस्ताना किया नहीं जाता।
खतकितावत करूं मैं कैसे बन्द * चुपके बैठे रहा नहीं जाता॥
अपने ही तेजके उजाले का * भेद भी कुछ लखा नहीं जाता।
है समझ मेरी और मैं वह एक * ज्ञान बे-फायदा नहीं जाता॥
साफ कागज पै हो लिखा जो राम * तो बुरा भी कहा नहीं जाता।
कागज अपने में आप सुन्दर है * उसमें कुछ भेद आ नहीं जाता॥
आप हो जो स्वरूपसे उजला * उसका उजलापना नहीं जाता।
ऊपरी स्याहियां मिटेंगी जरूर * असली कालापन नहीं जाता॥
साफ कागज पै दाग शायद हो * मुझसे ऐसा सुना नहीं जाता।
सब तरह एक शुद्ध सीताराम * दाग कुछ भी कहा नहीं जाता॥

आपका सीताराम

---

(२६) ॐ १—७—२५ देहरादून

श्रीमन्\.........आपका प्रेम पत्र मिला पढ़ कर केवल आनन्द ही नहीं हुआ प्रत्युत बड़ा भारी विस्मय हुआ क्योंकि आपसे यह

बड़ी भारी गलती हुई जिसकी स्वप्नेमें भी सम्भावना नहीं थी। जब आप जैसे पढ़े लिखे बाबूजी भी ऐसी गलती करें तब दूसरे लोगोंका तो ठिकाना ही कहां है, आपने अपने पत्र द्वारा इसका स्मरण किया ह और स्मरण उसका होता है जो अनुभूतिका विषय हो चुका हो। हमको आपकी शपथ है न कभी हम अनुभूतिके विषय हुए हैं और न होंगे किन्तु केवल अनुभूति मात्र हैं। ऐसी दशामें पत्रका लिखना भी सरासर गलत है। आपने ऐसी गलती क्यों की यह हमारा सवाल है और माताजी प्रभृतिको यथोचित कह देना।

(३० ओं ८-७-२५ देहरादून

श्रीमन्..........हमारा तो वही वक्तव्य है कि अनुभूति कदापि स्मृतिका विषय नहीं हो सकती यदि हो सकती है तो घटादि-वत् जड़ होगी। इसलिये तुम अपने आपको अनुभूति मात्र समझो फिर दृश्यसे निराश होकर तुम चुपचाप बैठे रहो, लिखने लिखानेसे बाज आओ। तुम्हारा गलती करनेका स्वभाव पड़ा है और हमारा क्षमा करनेका स्वभाव है। देखिये तुम्हारी हजारों गलतियां पकड़ कर भी हम चुपचाप बैठे हैं अगर दूसरा कोई होता तो बतलाता कि गलती करनेवालोंको कितनी सख्त सजा मिलती है, हमें तो सिवाय क्षमाके दूसरा कोई दीखता ही नहीं, इसीसे आपका बचाव हुआ है।

"अहमेव शिवः परमार्थ इति अभिवादन मात्र करोमि कथम्" हृषीकेशमें बाबा काली कमलीवालेके सदाव्रतमें ३ दिनसे हड़ताल हो रही है, तू क्यों सोच करे। १५ तारीख तक तो हमारा यहीं रहनेका

विचार है फिर हृषीकेश और हरद्वार। सबको यथायोग्य कह देना नहीं तो सब गुड़ गोवर हो जायगा। हम लोग तो अनुभूति मात्र होकर भी अनुभाव्य को नहीं देखते, अहोधन्यावयम्।

राम राम जपो बैठकर ज्ञान होना कठिन है, क्योंकि "आत्मनो ज्ञान स्वरूपत्वात् अहो नात्मनोऽन्यत्पश्यामि" आपका वही मङ्गल नाथ जिसके कोई नहीं साथ।

---

(३१) ॐ १६-७-२५–देहरादून

श्रीमन्·······आपका प्रेम पत्र मिला पढ़कर आनन्द हुआ मगर असलियत यह कि "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत अथ केनकं पश्येत्" इत्यादि श्रुति वाक्योंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि खतोकिताबतका मूल कारण आत्मज्ञान नहीं है, किन्तु अज्ञान है। ऐसी कोई बात नहीं जो आप मुझे जनावें या मैं आपको जनाऊं, क्योंकि तुम्हारे और मेरे में भेद एक मासा भी नहीं है। क्यों है न ठीक ? जब तक आप मुझे मित्र समझते हैं तब तक ही कीजिये खतोकिताबत। जब समझ लिया अपने आपको जैसे का तैसा तब फिर खतोकिताबत कैसा ? यह एक लक्षकी बात है इसकी कीमत बाजारमें नहीं पड़ेगी। किन्तु वेदोंके मस्तकमें खोजिये। लेखक आपका मङ्गल नाथ जिसके कोई नहीं साथ असङ्गत्वात्।

---

(३२) ॐ २-६-२५ लाहौर

श्रीमन्‌……आपका प्रेम पत्र मिला पढ़कर आनन्द हुआ। मैं कतिपय दिनोंसे यहां लाहौरमें आया हुआ हूं, परन्तु कुछ दिनोंके पश्चात् हृषीकेश जानेका विचार है। आपको ज्ञान तो हो गया होगा कि सिवाय ब्रह्मके सत् और असत् कुछ भी नहीं है। वस अब ब्रह्मका क्या कर्तव्य है, मालूम होता है कि आप निष्कर्तव्यताको आगे रखकर अपना निर्वाह करते हैं सो कीजिये, हमें क्या मतलव ?

सूर्य शीतल हो चन्द्रमा उष्ण हो और अग्नि अधःप्रसृत हो पर तू क्यों सोच करे ? हमेशा अपनी स्वरुप स्थितिका अनुभव कीजियेगा। और अपने कुशल समाचारसे सूचित करते रहियेगा। और सबको यथायोग्य कहियेगा।

---

(३३) ॐ २५-१२-२५ हृषीकेश

श्रीमन्‌…………नृसिंह तापनीय में, जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय, ऐसी चार अवस्था कह कर तुर्यके ओता अनुज्ञाता अनुज्ञा और अविकल्प यह चार भेद कहें हैं उनके लक्षण यह हैं:—

ब्रह्मणो गुरु शास्त्राभ्यां बुद्ध्वा सर्वात्मतां ततः।
सर्व वस्तुष्वनुस्यूतं पश्यन्नोता भवेदयम्॥ १॥

इन्द्रियाणि निरुध्याहं ब्रह्मेति ब्रह्मतात्मनि।
येनानुज्ञायते सोयमनुज्ञातेति कथ्यते॥ २॥
ज्ञातृत्वं निराकृत्यतु चिदेकरसशेषता।
अनुज्ञेत्युच्यते मुक्ति रविकल्प इतीर्यते॥ ३॥ और

"दाह्यं दग्ध्वा यथा वन्हिर्निर्व्यापारोविशिष्यते।
अनुज्ञैकरसस्तद्वच्चिन्मात्रः परिशिष्यते।" यह भी वहीं कहा है
ज्ञानके आश्रय और विषयको त्याग कर ज्ञान मात्र परिशिष्ट
अनुज्ञा शब्दका अर्थ है। आपका.......

नोटः—इस व्यक्तिने श्री महाराजसे अनुज्ञा शब्दका अर्थ ही पूर्वोक्त श्लोकमें पूछा था उसपर यह सब विचार किया है, पूर्वके श्रीमहाराजको लिख कर भेजे हुए श्लोकोंका यह अर्थ हैः—

गुरु शास्त्र द्वारा, ब्रह्मको सर्वात्मताको जानकर पीछे सर्व वस्तुओंमें अनुस्यूत (यानी व्याप्त आत्मरूपसे) देखता हुआ यह (तुरीय साक्षी) "ओता" नामसे प्रसिद्ध होता है॥ १॥

इन्द्रियोंका निरोध करके "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार ब्रह्म रूपताको आत्मामें जिसने गुरु शास्त्र द्वारा जाना है। सो यह साक्षी अनुज्ञाता कहलाता है॥ २॥

ज्ञातृता (यानी अहं) का निषेध करके चिद्-एक रस शेष रहना अनुज्ञा नामसे कहा जाता है और मुक्तिको अविकल्प कहते हैं॥३॥

जलानेके योग्य काष्ठादिकको जलाकर जिस प्रकार अग्नि निर्व्यापार (यानी विना जलानेकी क्रियाके) शेष रह जाती है। इस प्रकार "अनुज्ञा" (तुरीय) एक रस चिन्मात्र शेष रहता है॥ ४॥

(लेखक सीताराम)

---

(३४) ॐ २-५-२६ लखनऊ

श्रीमन्…………आपका प्रेम पत्र मिला हर्ष हुआ। आपकी इच्छा और विज्ञानके विरुद्ध जो कुछ कहा है वह सब वापिस कर और तीन कालमें आत्मा एक अद्वैत हैं और सदा अकेला रहता है, यह जानकर बस आप सदा अपने आपमें सन्तुष्ट रहें, और भूलकर कदापि अपने आपको किसी जवाब सवालके फन्देमें न फांस देना चाहिये। मैं अपने आपमें सन्तुष्ट हूं दूसरे की कल्पना करनेमें सर्वथा असमर्थ हूं, अतएव जवाब सवाल या धमकी देनेसे या दिलानेसे मैं सर्वथा वाज आया आपको भी ऐसा ही होना उचित है। अब आपको कुछ कहनेकी जगह है तो कहिये नहीं तो अपने आपमें सन्तुष्ट रहिये यथा अहम् अब प्रश्नोत्तर के दिन गये और विश्रामके दिन आ गये हैं। आपकी मर्जी हो तो वेशक आराम और विश्राम करें नहीं तो याद रक्खो कि एक प्रश्न करोगे तो चार उत्तर देनेपर भी पिण्ड न छूटेगा। क्यों है न लाख की वात ? आप अपनेको ज्ञानी न समझ कर ज्ञान स्वरूप समझें तो और भी अच्छा होगा। और उससे भी अधिक अच्छा यह है कि समझने और समझानेको छोड़कर बाकी है, सो है, "तेरी सदाही जय" क्यों सुन्दर उपदेश है वाह! वाह!

राम भरोसा हमको भारी * तीन लोकसे मथुरा न्यारी।
हमको क्या किसीसे काम * भजले साधू सीताराम ॥
वहां पर है कोई और तुम्हारा * उसको हरिहर कहो हमारा।
जिसके आगे सीताराम * उसका यह पूरण विश्राम ॥
राम नाम की मन में माला * बाहर कीन्हा कागज काला।

लेखक के प्रार्थना करने पर कि आराम तथा विश्राममें जो अन्तर है, सो कृपा करके उपदेश कीजिये श्री महाराज उत्तर देते हैं:—

———

(३५) ओम् २७—५—२६ लखनऊ

श्रीमन्......जिसमें मन और वाणीका प्रवेश नहीं उसमें शब्दों के अर्थके अन्तर पूछना उचित नहीं है, परन्तु आपके लिहाज और दवावके वश कुछ कहना ही पड़ता है कि खेद और श्रममें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर आराम और विश्राममें है अर्थात् खेद की निवृत्तिके अनन्तर आराम और श्रमकी निवृत्तिके अनन्तर विश्राम है अथवा खेद और श्रमकी निवृत्ति ही आराम और विश्राम शब्दका अर्थ है। परन्तु जिसने खेद और श्रम देखा ही नहीं, उसके आगे आराम और विश्रामकी कथा अकथनीय नहीं है। इसलिये भूल चूक में जो कुछ लिखा गया उसे वापिस करो। क्योंकि वाल की खाल निकालनेमें कुछ अकलमन्दी या मुनाफा हासिल नहीं हो सकता, यह वड़े वुजुर्गों की हिदायत है आगे जो न माने उसकी खुशी।

(३६) ओम् हृषीकेश

श्री महाराजसे इस व्यक्तिने पत्र द्वारा श्री योग वाशिष्ठके दो श्लोकोंके अर्थ पूछे थे, उत्तरमें जो अर्थ उन्होंने लिखे सो यह हैं:—

"उपशान्त सप्रस्तेहं विगताखिल कौतुकं।
निरस्त वेदनं ज्ञेन विदा केवलमास्यते।"

अर्थः—उपशान्त समस्तेहं=जागरित अवस्था और स्थूल शरीर के व्यापारके प्रतिषेध पूर्वक।

विगताखिल कौतुकम्=स्वप्न अवस्था और मानस व्यापार प्रतिषेध पूर्वक।

निरस्तवेदनं=सुषुप्ति अवस्था और बुद्धि व्यापारके प्रतिषेध सहित।

केवलं=त्रिविध व्यापारके अभाव पूर्वक केवल।

विदा=चैतन्य मात्र स्वरूप करके ही।

ज्ञेन आस्यते=विद्वानने स्थित होना है।

"उपशान्तेन दान्तेन आत्मा रामेण मौनिना।
ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्त वादिना।"

अर्थः—विज्ञानैकान्त वादिना=विवेकिना

आत्मारामेण=विरक्तेन

दान्तेन=निगृहीत वाह्येन्द्रियेण

उपशान्तेन=निग्रहीत मनसा

मौनिना=आत्म निष्ठेन ज्ञानिना

ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन=यो ज्ञेयो ब्रह्मबुद्ध्यान्विष्यते स ज्ञातैव। कुतः? ज्ञातृ भिन्न ज्ञेयाभावात्॥ इत्योम्।

इति सीताराम गुप्त कृत श्रीमङ्गलोपदेश रसायनं सम्पूर्णम्॥

ब्रह्मार्पणमस्तु, शुभं भवतु

पुस्तक मिलनेका पता—

बाबू मन्नालाल सुरेका रतनगढ़ निवासी

६८ नं० मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,

कलकत्ता ।

दूसरा पता :—

प्रबन्धक पंजाब सिन्ध क्षेत्र

मु० हृषीकेश जिला देहरादून